

सतपुड़ा के बाशिन्दे

सतपुड़ा अंचल के विकास पीड़ित गांवों की कुछ झलकियां

बाबा मायाराम



प्रकाशक

किसान आदिवासी संगठन

दिसंबर 2009

सतपुड़ा के बाशिन्दे

सतपुड़ा अंचल के विकास पीड़ित गांवों की कुछ झलकियां

बाबा मायाराम

ईमेल: babamayaram@gmail.com

आवरण चित्र: सुखीराम, इन्दिरानगर

प्रकाशक

किसान आदिवासी संगठन

ग्राम-पोस्ट केसला

ज़िला होशंगाबाद 461 111

दिसंबर 2009

इस पुस्तिका में प्रकाशित सामग्री का कोई कॉपीराइट नहीं है। सामग्री का उपयोग करने पर स्रोत का उल्लेख अवश्य करें।

सहयोग राशि: 25 रुपए

प्राप्ति स्थल

1. राजनारायण स्मृति भवन, ग्राम-पोस्ट केसला, ज़िला होशंगाबाद, म.प्र. 461 111
2. बाबा मायाराम, अग्रवाल भवन, पचमढ़ी नाका के पास, रामनगर कॉलोनी, पिपरिया 461 775
3. श्रीगोपाल गांगूड़ा, चांदरमल मदनगोपाल, मेन रोड, पिपरिया 461 775

सतपुड़ा के बाशिन्दे

सतपुड़ा अंचल के विकास पीड़ित गांवों की कुछ झलकियां

बाबा मायाराम

प्रकाशक

किसान आदिवासी संगठन

दिसंबर 2009

क्रम सूची

आभार	5
प्रस्तावना	6
होशंगाबाद ज़िला: एक परिचय	9
धाई: शेर बचे न बचे, आदिवासी मरते जाएंगे	13
उजड़े-उखड़े गांव के बच्चे	17
डोबझिरना: एक चिट्ठी दोहरी त्रासदी की	20
नीमघान: अमीरों का सैर-सपाटा, आदिवासियों के जीवन में अंधेरा	24
इंदिरानगर: न वे ढोल हैं, न वह मस्ती है	28
काजरी-रोरीघाट: ललतान की दहिया में क्या बुरा है?	30
नयाखेड़ा: चालीस साल बाद लकड़ी गट्टे ही बेचना है	34
तवा के मछुआरे	38
सांडिया: बांध की बलि चढ़ा नर्मदा का केवट समुदाय	43
छींदापानी: विस्फोटों में उखड़ते ज़िंदगी के परखच्चे	47
गाजनिया बेड़ा: पहले महुआ खाते थे, वह भी छिन गया	50
काकड़ी: जंगल का एक स्वावलम्बी गांव बचेगा क्या?	54
विस्थापन के डर से सहमी हैं जंगल की बेटियां	58
राईखेड़ा-आंजनढाना: न बिजली, न डीज़ल, फिर भी हो रही है सिंचाई	61



आभार

यहां प्रस्तुत रपटें विज्ञान एवं पर्यावरण केंद्र (सी.एस.ई.), नई दिल्ली और विकास संवाद, भोपाल की मीडिया फैलोशिप के तहत इस वर्ष (2009) तैयार की गई हैं। ये रपटें होशंगाबाद ज़िले में अलग-अलग परियोजना से विस्थापन और उसके असर से जुड़ी हुई हैं। इनमें से कुछ रपटें ऐसे गांवों की भी हैं जिन पर विस्थापन की तलवार लटक रही है। ऐसे गांवों के लोगों के सकारात्मक प्रयासों पर प्रकाश डाला गया है। हर रपट अपने-आप में स्वतंत्र होते हुए भी सम्मिलित रूप में सतपुड़ा अंचल में बाशिन्दों की स्थिति का आभास दे सकेंगी, ऐसा विश्वास है।

प्रसिद्ध पत्रकार भारत डोगरा जी ने इस किताब की प्रस्तावना लिखकर इसकी उपादेयता को बढ़ा दिया है। इसके लिए धन्यवाद शब्द थोड़ा हल्का जान पड़ता है। सामग्री संकलन से लेकर उसे सहेजने और लिखने तक सुनील भाई ने इस काम में अमूल्य सहयोग और मार्गदर्शन किया है। सुशील जोशी जी ने अपनी व्यस्तता के बावजूद इसका संपादन किया है और इसे एक सुव्यवस्थित किताब की शक्ल दी है। इसके लिए मैं हृदय से आभारी हूं।

और उन सबके प्रति भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूं जिन्होंने प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष रूप से इस काम में मदद की है। विशेषकर केसला विकासखंड के जनपद उपाध्यक्ष फागराम, सोहागपुर के जनपद सदस्य मोतीराम तेकाम, पिपरिया एकलव्य के गोपाल राठी और कमलेश भार्गव सहयोग करने के लिए सदैव तत्पर रहे।

सी.एस.ई. और विकास संवाद का आभार व्यक्त करता हूं जिनकी मदद से यह कार्य संभव हुआ है। दैनिक छत्तीसगढ़, रायपुर के संपादक सुनील कुमार और सर्वोदय प्रेस सर्विस के चिन्मय मिश्र ने इन रपटों को प्रकाशित किया है। पर सबसे अधिक मैं दिल से आभारी हूं उन आदिवासी भाई-बहनों का जिन्होंने अपने ज़ख्म मेरे सामने खोले, अपने दुख-दर्द बांटे।

इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए कई मित्रों ने आर्थिक सहयोग दिया है। मैं उन सबका आभारी हूं।

प्रस्तावना

हाल के वर्षों में सरकारी स्तर पर पर्यावरण की रक्षा में बड़े पैमाने पर लोगों की भागीदारी प्राप्त करने, इसे जन अभियान व जन आंदोलन का रूप देने की बातें तो बहुत हुई हैं, पर ईमानदारी से यह आकलन नहीं किया गया है कि काफी समय से इस दिशा में कई प्रोजेक्ट आदि चलाने के बावजूद ऐसे बड़े पैमाने के जन अभियान क्यों नहीं उभर पाए हैं। यह जानने का भी ईमानदार प्रयास नहीं किया गया है कि सरकार द्वारा पर्यावरण रक्षा के तमाम दावों और प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद जब पर्यावरण बचाने के कुछ जन अभियान व जन आंदोलन ज़ोर पकड़ते हैं तो इनका सरकार से या सरकार द्वारा पोषित हितों से बार-बार टकराव क्यों होता है?

यदि इन सवालों के जवाब खोजने का प्रयास पूरी ईमानदारी से होता तो यह मूल तथ्य सामने अवश्य आता कि पर्यावरण की रक्षा में लोगों की उत्साहवर्धक भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए सरकार को जिस तरह की नीतियां अपनानी चाहिए, वैसी नीतियां अधिकांश संदर्भों में अभी सरकार ने नहीं अपनाई हैं। यह तो सच है कि पर्यावरण की रक्षा लोगों की बहुत व्यापक स्तर की भागीदारी से ही होगी, पर सवाल यह है कि इस भागीदारी को प्राप्त करने की ज़मीन कैसे तैयार होगी, इसकी बुनियाद कैसे तैयार होगी। वैसे तो इसके लिए कई स्तरों पर प्रयास ज़रूरी हैं, पर निश्चय ही एक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अनुकूल सरकारी नीतियों की है। यदि सरकारी नीतियां ऐसा माहौल बनाएं जिससे पर्यावरण की रक्षा के कार्यों व मेहनतकश लोगों की रोज़ी-रोटी के उद्देश्यों में साम्यता स्थापित हो, दोनों उद्देश्य एक साथ आगे बढ़ सकें, फल-फूल सकें, तो इसमें काफी हद तक वह माहौल बन जाएगा, वह ज़मीन तैयार होगी जिसमें पर्यावरण की रक्षा को व्यापक जन आंदोलन बनाने का बेहद सार्थक उद्देश्य प्राप्त किया जा सकेगा।

इसके विपरीत यदि सरकारी नीतियां ऐसी हों जो पर्यावरण की रक्षा के नाम पर लोगों की रोज़ी-रोटी छीनती हों, तो सरकार पर्यावरण की रक्षा में लोगों की भागीदारी की बात चाहे जितनी कर ले, पर इसे हकीकत बनाना संभव नहीं होगा और जब अपने बलबूते पर लोग आगे आएंगे भी तो अनुचित सरकारी नीतियों को लागू करने वालों से उनका टकराव होगा।

बाबा मायाराम ने इस पुस्तक में जो रिपोर्टिंग की है, उससे यही हकीकत बहुत स्पष्ट

उभर कर सामने आती है। बाबा एक ऐसे पत्रकार हैं जो दूर-दराज़ के गांवों की सही स्थिति को अपनी कलम के माध्यम से सामने लाते रहे हैं। इसके लिए लंबी यात्राएं करने, बहुत मेहनत करने और कई कठिनाइयां सहने के लिए वे तैयार रहते हैं। उनकी यही मेहनत और निपुणता उनकी रिपोर्टों में स्पष्ट झलकती है।

होशंगाबाद का किसान आदिवासी संगठन ऐसा संगठन है जो पर्यावरण की रक्षा और रोज़ी-रोटी की रक्षा को साथ-साथ आगे लेकर चलना चाहता है। वह बहुत मेहनत और व्यापक अध्ययन-सर्वेक्षण से यह सिद्ध करता है कि वन्य जीव, जलीय जीव व आदिवासियों, किसानों, मछुआरों की रोज़ी-रोटी आपस में जुड़े हैं व दोनों की रक्षा का कार्य साथ-साथ आगे बढ़ सकता है।

चूंकि ऐसे संगठनों के मेहनतकश लोगों से गहरे सम्बंध होते हैं, अतः सरकार द्वारा पर्यावरण रक्षा में लोगों की भागीदारी के घोषित उद्देश्य को प्राप्त करने में वे सेतु की महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। पर कड़वी सच्चाई यह नज़र आती है कि सरकार की वन्य जीव नीतियां मेहनतकश लोगों को जोड़ती नहीं हैं अपितु उन्हें विस्थापित करती हैं। इस तरह जो टकराव बिना वजह उत्पन्न कर दिया जाता है, उसे बाबा मायाराम की लेखनी पैनेपन से पकड़ती है। इस तरह की क्रूर विडंबनाएं नज़र आती हैं कि वन्य जीव रक्षा के कार्य की शुरुआत 40,000 पेड़ काटने से होती है। इनमें से प्रत्येक पेड़ अनेक जीवों की रक्षा में सहायक हो सकता था।

इसके साथ ही बाबा मायाराम साधारण मेहनतकश लोगों की रचनात्मकता की भारी संभावनाओं के बारे में विस्तार से बताते हैं। जो लोग दूर-दूर से पानी केवल अपनी मेहनत व कौशल से लाकर सूखती फसल को भी हरा-भरा बना सकते हैं, वह भी बिना किसी बाहरी सहायता व प्रोत्साहन के, उन्हें यदि सरकारी सहयोग व प्रोत्साहन मिले तो वे पर्यावरण की रक्षा में, धरती को हरा-भरा करने में, जल संरक्षण करने में कितना आगे जा सकते हैं।

बाबा मायाराम की इस पुस्तक में विस्थापितों के गहरे दुख-दर्द के अनेक उदाहरण मिलते हैं, साथ ही यह समझ बनती है कि इस विस्थापन से आसानी से बचा जा सकता था। विस्थापन, वन्य जीव रक्षा, आदिवासियों व अन्य मेहनतकशों की रचनात्मक क्षमता व अन्य कई महत्वपूर्ण विषयों की बेहतर समझ बनाने में यह पुस्तक महत्वपूर्ण व उपयोगी होगी।

- भारत डोगरा

मनुष्य बाघ संवाद

पलामू के एक जंगल में
एक ट्राइबल को एक टाइगर मिल गया
दोनों के सम्बंध अच्छे नहीं थे उन दिनों
तो भी पुराने दिनों की खातिर
ट्राइबल ने हाथ जोड़ नमस्ते कर दी

घमंड में चूर बाघ ने मुंह फेर लिया
नमस्ते का जवाब तक न दिया
तिरस्कार की नज़र से घूरा
बोला - हट जाओ रास्ते से
हम तुम्हारे ढोर खाने जाते हैं

यह देख आदिवासी को ताव आ गया
बिरसा का खून धमनियों में बह गया
इतना दर्प! ऐसा अपमान!
किस बात का है इसको गुमान
उसने तान दिया तीर-कमान

टाइगर ने अट्टहास किया, बोला
आज का कानून समझ के तीर चलाना
मैं तुम्हें मारुं तो सुरक्षित हूं
तुम मुझे मारो तो धर लिए जाओगे
पछताओगे, जेल की हवा खाओगे

ट्राइबल झल्लाया, बोला यह कैसा कानून
यह तो अंग्रेज़ों के दिनों में भी नहीं था
तब अति संक्षेप में टाइगर ने समझाया
प्रोजेक्ट टाइगर बन चुका है
प्रोजेक्ट मानव अभी बनना है

✍ भारत डोगरा

होशंगाबाद ज़िला: एक परिचय

मध्यप्रदेश के दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र में बसा होशंगाबाद ज़िला भौगोलिक दृष्टि से दो भागों में बंटा है - एक है सतपुड़ा की जंगल पट्टी और दूसरा है नर्मदा का कछार। सतपुड़ा की जंगल पट्टी में मुख्य रूप से कोरकू और गोंड आदिवासी निवास करते हैं। नर्मदा का कछार काफी उपजाऊ माना जाता है, जहां अधिकांश गैर आदिवासी रहते हैं। ज़िला मुख्यालय होशंगाबाद में है जो नर्मदा नदी के किनारे बसा है। ज़िले के उत्तर में नर्मदा नदी बहती है और यही इसकी उत्तरी सीमा निर्धारित करती है। उत्तर-पूर्व में नर्मदा की सहायक नदी दूधी है, जो एक तरह से जिले की सीमा बनाती है। दक्षिण-पूर्व में छिंदवाड़ा और पश्चिम में हरदा ज़िला है। तवा, गंजाल, देनवा, मोरान, दूधी, माचक और अजनाल आदि प्रमुख नदियां हैं। तवा नदी दक्षिण में स्थित बैतूल ज़िले से इस ज़िले में प्रवेश करती है और होशंगाबाद के पास बांद्राभान नामक स्थान पर नर्मदा में मिलती है। देनवा नदी पचमढ़ी के पास से निकलती है और रानीपुर गांव के पास तवा में मिलती है। तवा और देनवा के संगम पर ही तवा बांध बना है। ज़िले के दक्षिणी में पूर्व से पश्चिम तक सतपुड़ा पर्वत श्रृंखला फैली हुई है।

आजादी के बाद से होशंगाबाद ज़िले में अलग-अलग परियोजनाओं से बड़ी संख्या में आदिवासियों का विस्थापन हुआ है। इस पुस्तिका में पिपरिया, बाबई और केसला विकासखंड के गांवों के कुछ गांवों की बानगी प्रस्तुत है।

विस्थापितों का ज़िला

होशंगाबाद ज़िला मुख्यतः विस्थापितों और भगाए गए लोगों का ज़िला बन गया है। यहां अलग-अलग समय में अलग-अलग परियोजनाओं से कई लोग विस्थापित हो चुके हैं। यहां 1970 के दशक के प्रारंभ में बने तवा बांध के कारण 44 आदिवासी गांव विस्थापित हुए थे। इसके साथ ही भारतीय फौज द्वारा गोला-बारूद के परीक्षण के लिए बनाई गई प्रूफरेंज से 26 गांव उजड़े थे। इसके बाद ऑर्डिनेंस फैक्ट्री बनी जिसमें 9 गांवों के लोगों की ज़मीनें चली गईं। फिर 1981 में सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान बना, तब

दो गांव हटाए गए। इसके अंतर्गत एक गांव नीमघान के लोग हटना नहीं चाहते थे; उनके कुछ झोपड़ों में आग लगा दी गई। कुल मिलाकर, 80 गांवों के लगभग 50,000 लोग विस्थापित हुए। इनमें से कई गांव वनग्राम थे जहां मुआवज़ा देने की ज़रूरत नहीं समझी गई। राजस्व गांवों में बहुत कम मुआवज़ा दिया गया - 35 रुपए प्रति एकड़ से लेकर 200 रुपए प्रति एकड़ तक। अधिकांश लोगों को दूसरी जगह ज़मीन और रोज़गार देने की ज़रूरत सरकार ने नहीं समझी। अब टाइगर प्रोजेक्ट के तहत गांवों को खाली कराया जा रहा है।

सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व

होशंगाबाद ज़िले में वन्य प्राणियों के लिए तीन सुरक्षित क्षेत्र बनाए गए हैं - सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान, बोरी अभयारण्य और पचमढ़ी अभयारण्य। तीनों को मिलाकर सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व बनाया गया है। पचमढ़ी नामक हिल स्टेशन इनके बीच स्थित है। सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व का क्षेत्रफल करीब 1500 वर्ग कि.मी. है। इसमें आदिवासियों के लगभग 75 गांव हैं और इतने ही गांव बाहर इसकी सीमा से लगे हुए हैं। इनमें से अंदर के लगभग 50 गांवों को हटाने की योजना है। बोरी अभयारण्य के दो गांव धाई व बोरी विस्थापित किए जा चुके हैं।

प्रूफ रेंज

सतपुड़ा की घाटी में यह ताकू प्रूफरेंज 1972 के आसपास बना था। यहां बमों का परीक्षण होता है। इससे 26 गांव उजड़े हैं। इन लोगों के घर और ज़मीन छिन गए। साथ ही पूरा परिवेश, जंगल, फलदार पेड़ सब कुछ पीछे छूट गए। इनमें से कई गांव अब सिर्फ लोगों की स्मृतियों में हैं। प्रूफ रेंज से प्रभावित दो गांवों की रिपोर्ट यहां प्रस्तुत की गई है।

तवा बांध

यह बांध सत्तर के दशक के प्रारंभ में बना था। यह नर्मदा घाटी का पहला बड़ा बांध है। भारत की हर बड़ी योजना की तरह यह परियोजना भी विदेशी सहयोग से बनी। इस परियोजना के विस्थापित परिवारों की भूमि, मकान, वृक्षों, कुओं आदि का नाममात्र का मुआवज़ा दिया गया। विस्थापितों के अनुसार उन्हें 18 रुपए से लेकर 150 रुपए

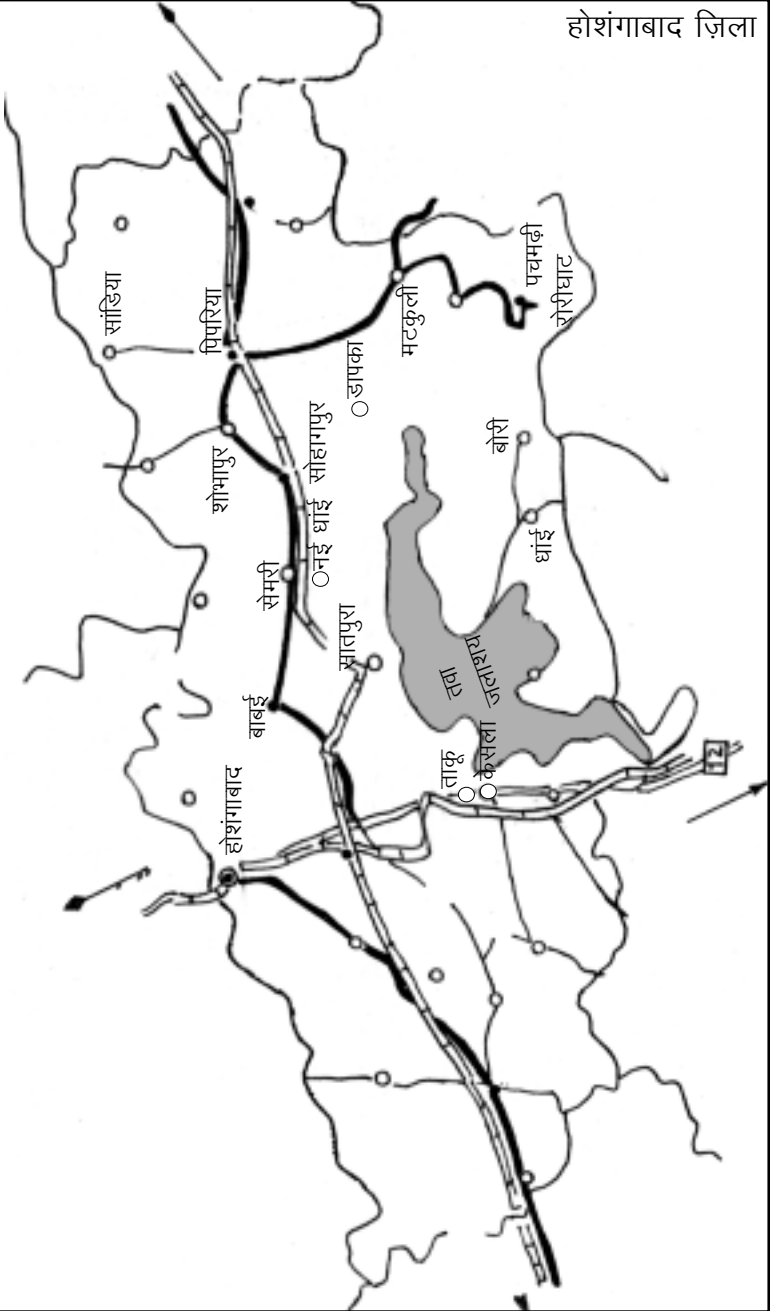
प्रति एकड़ की दर से भूमि का मुआवज़ा मिला था। तवा बांध से 44 गांव उजड़े हैं। पहाड़ी क्षेत्र में बांध ने भारी तबाही मचाई। बड़ी संख्या में लोगों को उजड़ना पड़ा। उनकी ज़मीनें डूब गईं और उन्हें बांध का लाभ भी नहीं मिला। पहाड़ी इलाके में बहुत गहरा भूजल और हल्की जमीन होने के कारण यहां अन्य तरीकों से सिंचाई भी नहीं होती। हालांकि यहां छोटे नदी-नालों का ताना-बाना है लेकिन इन पर बांध आदि नहीं हैं। इसलिए पानी का संकट बना हुआ है। केवल बारिश की फसल ही होती है। जंगल का क्षेत्र होने के कारण जंगली जानवरों, खास तौर से जंगली सुअरों से फसलों को नुकसान होता है।

दूसरी ओर, तवा कमांड क्षेत्र के तहत जिले के मुख्य मैदानी इलाके में आधुनिक खेती या कहे रासायनिक खेती की शुरुआत तवा बांध के साथ ही हुई। नहर से सिंचाई के साथ-साथ संकर जाति के बीज, रासायनिक खाद और कीटनाशकों का उपयोग भी शुरू हुआ। लेकिन कुछ समय बाद ही दलदलीकरण एक बड़ी समस्या बन गई।



होशंगाबाद ज़िला

उत्तर



धाँई

शेर बचे न बचे, आदिवासी मरते जाएंगे



“मैं बहुत अकेला हो गया हूं। मेरे घर में यहां आने के बाद बीमारी से पांच मौतें (पत्नी मेत्रोबाई, पुत्र सुकुमार, नाती, भाई बलमंत और उसकी लड़की) हो गई हैं। जो पैसा था, सब खत्म हो गया। घर में जो गहने-जेवर थे वे भी बिक गए। घर में खाने को नहीं है तो इलाज कहां से करवाएं?” यह कहना है अधार सिंह का। अधार सिंह नई धाँई गांव के निवासी हैं, जिसे चार वर्ष पहले बोरी अभयारण्य से विस्थापित करके बाहर बसाया गया है।

घर में आई इस मुसीबत के कारण उसकी छोटी बेटी रजनी ने स्कूल छोड़ दिया। वे एक नाती

की पढ़ाई को लेकर भी चिंतित हैं। उनकी लड़कियां जलाऊ लकड़ी का गट्ठा बेच रही हैं, उससे जैसे-तैसे घर की गुज़र-बसर चल रही है।

इसी प्रकार यहां एक नए कुएं में गिरे हिरण को निकालने के लिए घुसे जवाहर और कैलाश की भी मौत हो गई। इस कुएं में जहरीली गैस थी, वन विभाग के लोग भी इसका अंदाज़ा नहीं लगा पाए, इस कारण दोनों को अपनी जान गंवानी पड़ी। ग्रामीणों ने मुझे बोरी अभयारण्य से आने के बाद से अब तक 16 लोगों की मौतें होने की सूची बनवाई है। हालांकि ये मौतें अलग-अलग समय में हुई हैं, लेकिन सब नई धाँई में ही हुई हैं।

अगर बोरी अभयारण्य से विस्थापित गांव धाँई का उदाहरण लें तो हम पाएंगे कि नई धाँई में आने के बाद विस्थापितों का जीवन पहले से मुश्किल हुआ है। उनका पूरी तरह से पुनर्वास नहीं हुआ है। साथ ही पड़ोसी गांव डोबझिरना, जिसके पास धाँई गांव को बसाया गया है, का जीवन भी प्रभावित हो रहा है। ऐसे जीवन संघर्ष में बच्चों का पोषण

सतपुड़ा के बाशिन्दे

और परवरिश प्रभावित होना स्वाभाविक है।

मध्यप्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में बोरी अभयारण्य भारत का पहला आरक्षित वन है। अब बोरी अभयारण्य, सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान और पचमढ़ी अभयारण्य को मिलाकर सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व बनाया गया है। इसमें सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान के 8 गांव, बोरी अभयारण्य के 17 गांव और पचमढ़ी अभयारण्य के 50 गांव शामिल हैं। कुल मिलाकर, आदिवासियों के लगभग 75 गांव हैं और इतने ही गांव बाहर सीमा से लगे हुए हैं। इनमें से अंदर के लगभग 50 गांवों को हटाने की योजना है। ये सभी गांव पूरी तरह जंगल, ज़मीन और पानी (तवा जलाशय) पर आश्रित हैं। वर्ष 2004-05 में धाँई को विस्थापित कर बाबई तहसील के एक कस्बे सेमरी हरचंद के पास बसाया गया था। यह सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व का पहला विस्थापित गांव है। धाँई कोरकू आदिवासियों का गांव है।

आज नई धाँई में नदी के बदले हैंडपंप है। बोरी अभयारण्य के अंदर पुरानी धाँई में सोनभद्रा नदी थी। वहां पानी इफरात था, आज वे बूंद-बूंद के लिए मोहताज हैं। खेतों में सिंचाई का साधन तो नहीं ही है, साथ में पीने के पानी का भी गहरा संकट है। यहां के करीब 91 मकानों के बीच 6 हैंडपंप हैं जिनमें से तीन खराब हैं और दो में कम पानी आता है, एक ही हैंडपंप चालू हालत में है। इस वर्ष गर्मियों में पानी का भीषण संकट

रहा। वैसे यहां तीन कुएं खोदे गए हैं मगर सूखे पड़े हैं। ट्यूबवेल हैं जिनसे फसल के समय पानी मिलता है, जिसमें बिजली कटौती एक समस्या है।

विस्थापितों को जो 5-5 एकड़ जमीन दी गई है, उसे खेती लायक तैयार नहीं किया गया है। ग्रामीणों के मुताबिक जो ज़मीन उन्हें दी गई है वहां पेड़ थे। खेतों से पेड़ों के पूरे तूट नहीं निकाले गए हैं, जबकि उन्हें निकालने का वादा किया गया था। इस कारण पूरे खेत में फसल नहीं लगा पा रहे हैं। उल्लेखनीय है कि विस्थापितों को बसाने के लिए नई धाँई के आसपास करीब 40 हज़ार पेड़ काटे गए हैं।



नए धाँई में नदी के बदले हैंडपंप है।

ग्रामीणों का कहना है कि वन विभाग ने जो वायदे किए थे वे पूरे नहीं किए हैं। तवा नहर की शाखा से सिंचाई का वायदा किया था, वह भी पूरा नहीं हुआ है।

यहां पानी और चारे की व्यवस्था नहीं होने के कारण अधिकांश मवेशी मर गए और जो बचे उन्हें चारे-पानी के अभाव में बेच देना पड़ा। अब खेती करने के लिए बैल भी



नहीं बचे हैं। लिहाजा, खेती को कौली (किराए पर) देना पड़ता है। यहां ऐसे भी खेत के मालिक हैं जो अपने ही खेत पर रखवाली का काम कर रहे हैं क्योंकि उन्होंने अपना खेत किसी को कौली पर दे दिया है। जिस किसान को कौली पर खेत दिया उसने खेत मालिक को ही रखवाली पर रख लिया। ऐसी विडंबना शायद ही कहीं और देखने को मिले कि किसान अपने ही खेत में मज़दूर बन गए हैं। यहां के बाशिंदे पनकू का कहना है कि खेतों में ज़्यादा ठूँठ होने के कारण अब कौली पर कोई खेत नहीं लेता। जंगल पर आधारित जीवन जीनेवाले आदिवासियों को खेती की ओर मोड़ने की कोशिश भी सफल नहीं हो पा रही है क्योंकि उनके पास खेती करने के लिए बैल और लागत नहीं है।

बोरी अभयारण्य के अंदर पुराने गांव में कोरकू आदिवासियों का जीवन जंगल पर आधारित था। वे जंगल से अपना जीविकोपार्जन करते थे। वहां तेंदू, अचार, गोंद, फल-फूल, कंद-मूल (ननमाटी, जंगली रतालू, बेचांदी, कडुमाटी), भमोड़ी (कुकरमुत्ता) आदि बहुतायत में मिलते थे। वहां पाए जानेवाले जिन कंदों में कड़वापन होता है उसे विशेष पद्धति से दूर कर लेते थे। बैल को उबालकर खाते थे। अगर एक-दो दिन भोजन न मिले तो जंगल से ही गुजारा चल जाता था। यह सब उनके भूख के दिनों के साथी थे। लेकिन यहां जलारु लकड़ी के अलावा जंगल से बहुत ही कम चीज़ें मिल पाती हैं। जीने का कोई और सहारा नहीं होने के कारण महिलाओं को सिरगट्ठा (जलारु लकड़ी) बेचने का काम करना पड़ता है। इसके पहले उन्होंने कभी यह काम नहीं किया सतपुड़ा के बाशिन्दे

है। वे जलाऊ लकड़ी का गट्ठा बांधना और उतना वज़न लेकर चलना सीख रही हैं। वे अपने गांव से उसे 5-6 किलोमीटर दूर सेमरी हरचंद में ले जाकर बेचती हैं। यह उनके लिए नया और कड़ी मेहनत वाला काम है। इसमें पूरे दो दिन लग जाते हैं। एक दिन वे जंगल जाकर लकड़ी एकत्र करती हैं और दूसरे दिन उसे बेचने ले जाती हैं। बदले में जो 40-50 रुपए मिलते हैं उससे राशन और रोज़ाना इस्तेमाल होनेवाली चीज़ें खरीदती हैं।

नई धाँई के पुनर्वास से इसके पड़ोसी गांव डोबझिरना के लोगों की समस्याएं बढ़ गई हैं क्योंकि धाँई के लोगों को डोबझिरना के लोगों की जमीन दे दी गई है। यह कहा जा सकता है कि उनके पास जमीन के पट्टे नहीं थे लेकिन वे 20-25 सालों से उस ज़मीन को जोत-बो रहे थे। वे भी गरीब आदिवासी थे। अब इन दोनों गांवों में तनाव हो गया है। लोगों की आपस में बातचीत भी बंद है।

यहां के जंगल पर दबाव बढ़ता जा रहा है। अब यहां बोरी अभयारण्य का एक और गांव बोरी आ गया है। यानी जंगल पर दबाव बढ़ता ही जाएगा। यहां जो पहले से बसे गांव हैं उनको भी निस्तार की समस्या हो रही है। चारा, ईंधन, वनोपज आदि के लिए छीना-झपटी बढ़ती जाएगी।

यहां पांचवी कक्षा तक स्कूल है जिसमें वर्तमान में एक ही शिक्षक है। इस स्कूल की कथा अगली रिपोर्ट में पढ़िए।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि ऐसे बड़े निर्णय, जिनसे लोगों की ज़िंदगी में भारी उथल-पुथल आती है, करते समय गहरे विचार-विमर्श की ज़रूरत होती है। सामाजिक-आर्थिक अध्ययन की ज़रूरत होती है। कई बार यह होता है जिन्हें हटाया जा रहा है उन्हें पता ही नहीं होता कि उन्हें क्यों और किस उद्देश्य से हटाया जा रहा है। शेरों के संरक्षण के लिए आदिवासियों को हटाया गया है या हटाया जा रहा है। क्या वन्य जीवों का संरक्षण आदिवासियों के साथ नहीं हो सकता है? क्या उन्हें हटाना ज़रूरी है? धाँई की वर्तमान हालत ये सवाल खड़े कर रही है।



उजड़े-उखड़े गांव के बच्चे

एक शिक्षक कैसे पढ़ाएगा
पांच कक्षाओं को?

दोपहर भोजन की छुट्टी

में बच्चे खेल रहे हैं, उछल-कूद रहे हैं। शिक्षक अपने कक्ष में बैठे कुछ लोगों से गपशप कर रहे हैं। इसी समय में अपने एक साथी के साथ नई धाई स्कूल पहुंचा।

वैसे तो नई धाई की बसाहट पूरी हो गई है। बड़े आकार के कवेलू वाले मकान बन गए हैं। घरों के पीछे बाड़ी है, जिसमें मक्का बोया गया है। आधी-अधूरी पक्की सड़कें बन गई हैं। गांव में घुसते ही एक बोर्ड लगा है जिसमें नई धाई का मोटा-मोटा ब्योरा दिया गया है। ऊपर से देखने में यहां सुंदर बसाहट और पुनर्वास का आभास मिलता है पर यहां के बच्चों और ग्रामीणों से बात करने पर उजड़ने का दर्द छलकने लगता है।

छुट्टी के बाद स्कूल फिर शुरू हुआ। यहां पांच कक्षाएं और शिक्षक एक है। नियुक्ति तो एक और शिक्षिका की है पर वे 3 माह के लिए प्रसूति अवकाश पर हैं। स्कूल में बच्चों की कुल दर्ज संख्या 78 है। जब शिक्षक से यह पूछा कि आप अकेले 5 कक्षाएं कैसे संभालते हैं, तो जवाब में उन्होंने आसमान की ओर देखा जैसे कह रहे हों 'भगवान भरोसे।' फिर संभलते हुए कहा कि गांव का एक और पढ़ा-लिखा युवक स्वैच्छिक रूप से बच्चों की पढ़ाई में मदद करता है।

एक ही कमरे में पांच कक्षाओं के बच्चे तुंसे हुए थे। मैले-कुचैले, फटे-पुराने कपड़े पहने आपस में बतिया रहे थे। स्वैच्छिक रूप से मदद करनेवाला युवक कुर्सी पर बैठकर उन्हें पढ़ा रहा था। मैं यह नहीं समझ पा रहा था कि वह कौन-सी कक्षा के छात्रों को पढ़ा रहा है क्योंकि उसके हाथ में कोई किताब तो थी नहीं। ज़ाहिर है जब उसकी नियुक्ति नहीं हुई है तो कोई प्रशिक्षण भी नहीं मिला होगा।

मैंने कक्षा में जाकर बच्चों से बात करने की इच्छा ज़ाहिर की, तो वह युवक अपने आप कुर्सी छोड़कर बाहर चला गया। उस कमरे में ज़्यादा लोगों के बैठने की जगह भी नहीं थी। मैं बच्चों के साथ टाटपट्टी पर बैठ गया। मैंने उनसे पूछा ‘आपकी अपने पुराने गांव की सबसे अच्छी क्या याद है?’ सबने कोरस में जवाब दिया - ‘नदी की’।

इसके बाद उन्होंने एक के बाद एक कई नदियों के नाम गिनाए - बोरी नदी, काकड़ी नदी और सोनभद्रा। सोनभद्रा यहां की बड़ी नदी है। कई और छोटे नदी-नाले हैं। उन्होंने आगे बताया, “हम इनमें कूद-कूदकर नहाते थे, डंगनियां से मछली और केकड़ा पकड़ते थे। यहां तो पानी ही नहीं है।” वे सब तैरना जानते हैं। इनमें से कुछ नदियां बारहमासी हैं। एक नदी में तो मगर भी रहता था।

“क्या आपको जंगल से भी कुछ चीज़ें खाने की मिलती थीं?” इसके जवाब में दिलीप, सोनू, आशा और विजय आदि ने बहुत सारे फल, फूल और पत्तों के नाम गिनाए। जैसे तेंदू, अचार, कबीट, सीताफल, गुल्ली, पीपल का बीज, जामुन, इमली, आम, बेर, मकोई, आंवला इत्यादि। उन्होंने कई जंगली जानवरों को भी देखा है। जैसे शेर, भालू, हाथी, सुअर, चीतल, नीलगाय, जंगली भैंसा, सोनकुत्ता, सियार, बंदर आदि।

इस बातचीत के दौरान धीरे-धीरे उनकी झिझक खत्म हो गई। उनका उत्साह बढ़ने लगा। वे वहां की कई बातें खुलकर बताने लगे। कक्षा में बहुत शोर होने लगा। हर बच्चा कुछ न कुछ बताना चाह रहा था। लड़के-लड़कियां सब कुछ न कुछ कहना चाहते थे। उन्हें याद है वहां के पहाड़, पथर, पेड़, नदी और वहां का अद्वितीय प्राकृतिक सौंदर्य। कई बच्चों ने अपनी यादें साझा कीं। वे ऐसे बता रहे थे जैसे कल की बात हो।

यहां का चौथी कक्षा में पढ़नेवाला अनिकेश कहता है, “मुझे यहां कुछ अच्छा नहीं लगता।” जब वे अपने गांव से उजड़ रहे थे तब उसे पता भी नहीं था कि कहां जा रहे हैं। वह कहता है, “हम अपनी बात अपने मां-बाप से भी नहीं कह पाते। वे सुबह से काम पर चले जाते हैं। फिर उनसे क्या कहें? जब कभी ज़्यादा मन भर आता है तब दोस्तों के साथ पास ही सिद्ध बाबा चले जाते हैं। जब यह पूछा कि अगर उसे कहीं और ले जाया जाए तो वहां उसे कौन-कौन-सी चीज़ें होने पर अच्छा लगेगा। उसने जवाब दिया, “नदी, जंगल, पहाड़ और गाय-बैल।” मैं सोच रहा था कि इन जंगल क्षेत्र के बच्चों को अपने परिवेश, जंगल-पहाड़ कितने प्रिय हैं? काश, उनके आसपास ये चीज़ें होतीं और

उनके पाठ्यक्रम में भी होती।

यह साफ है कि अब इन बच्चों को वह स्वच्छ, ठंडा और खुला वातावरण नहीं मिलेगा। उन्हें जंगल, पेड़, पहाड़, पत्थर, नदियां नहीं मिलेंगी, जिनसे वे रोज़ साक्षात्कार करते थे, वहां खेलते थे। जंगली जानवर नहीं मिलेंगे, जिनके संग खेलकर वे बड़े हुए थे। वे फल-फूल, पत्तियां और शहद नहीं मिलेगी, जिसे वे यूँ ही तोड़कर खा लिया करते थे। अब उनकी दिनचर्या और ज़िंदगी बदल गई है। अब नदी की जगह उनके पास हैंडपंप है जिनमें ज़्यादा मेहनत करने पर भी पानी कम टपकता है। जंगल और पहाड़ उनकी स्मृतियों में हैं। इन बच्चों को ठीक से पता भी नहीं है कि वे जंगल के गांव से यहां क्यों आ गए।

बच्चों से सम्बंधित तमाम कानूनों की मोटी-मोटी किताबों में बच्चों के लिए बहुत से प्रावधान हैं। संविधान में शिक्षा व पोषण का अधिकार है। बच्चों के अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र संधि है जिस पर भारत सरकार ने वर्ष 1992 में दस्तखत किए हैं। उसमें बच्चों को जीवन, विकास, सुरक्षा और सहभागिता के अधिकार दिए गए हैं। जीवन में उथल-पुथल लाने वाले ऐसे निर्णयों में उनकी सहभागिता होनी चाहिए। लेकिन उनकी राय कभी नहीं पूछी जाती, उनकी शिक्षा जैसी बुनियादी सुविधाओं को गंभीरता से नहीं लिया जाता है।

अक्सर विस्थापन के समय यह दलील दी जाती है कि बच्चों का भविष्य बेहतर होगा। और ग्रामीण भी अपने बच्चों का भविष्य जंगल के बाहर ही देखते हैं। यह स्वाभाविक



है। लेकिन नई धाई के स्कूल को देखकर ऐसी कोई उम्मीद नज़र नहीं आती, जहां पांच कक्षा और एक शिक्षक है। स्कूल के ही एक हिस्से में राशन का वितरण होता है। जबकि राशन का भंडारण बाजू में स्थित आंगनवाड़ी भवन में है। ऐसे में बच्चों के बेहतर भविष्य की उम्मीद कैसे की जा सकती है?

डोबझिरना

एक चिट्ठी दोहरी त्रासदी की

मेरी टेबल पर डोबझिरना गांव के लोगों की चिट्ठी पड़ी है, यह चिट्ठी अभी नहीं चार साल पहले आई थी। यह निजी नहीं, सार्वजनिक चिट्ठी है, जो डोबझिरना वालों ने देशवासियों को भेजी थी। गांववालों ने लिखा है कि हम सतपुड़ा अंचल के पुराने बाशिंदे हैं। हम कोई दूसरे देश से नहीं आए हैं। हमने कोई जंगल नहीं काटा है। सरकार हमें हटाकर कोई जंगल नहीं लगाने वाली है। हम कहां जाएंगे? हमारा पेट कैसे भरेगा? क्या हमें ज़िंदा रहने का भी अधिकार नहीं है? क्या हम इंसान नहीं हैं? क्या आदिवासियों को ज़मीन के एक टुकड़े का भी हक नहीं है? ये चंद सवाल उन लोगों के लिए हैं जो देश के जनसाधारण व आदिवासियों के बारे में चिंता करते हैं।

हाल ही मुझे डोबझिरना जाने और वहां के लोगों से मिलने का मौका मिला। वैसे तो यह गांव भी देश के अन्य गांवों की तरह ही है लेकिन यहां के लोगों के जीवन पर अचानक सुनामी या भूकंप की तरह मुसीबतें टूट पड़ी थीं। फर्क सिर्फ इतना था ये प्राकृतिक नहीं, मानव निर्मित समस्याएं थीं। वन विभाग और सरकार ने इनकी खेती की ज़मीनें हाल ही में विस्थापित धाई के लोगों को दे दीं जिससे डोबझिरना के लोगों का जीने का सहारा छिन गया।

डोबझिरना गांव मध्यप्रदेश के होशंगाबाद ज़िले की बाबई तहसील में सेमरी हरचंद से 8 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। इस गांव में कोई 50-55 कोरकू आदिवासी परिवार रहते हैं। कहानी की शुरुआत यह है कि यहां के कोरकू आदिवासी होशंगाबाद के पड़ोसी ज़िले छिंदवाड़ा के सातीआम गांव के हैं। करीब 20-25 साल पहले वे यहां रोज़गार की तलाश में घूमते-घामते पहुंचे थे और धीरे-धीरे यहीं बस गए, यहां की ज़मीन पर खेती करने लगे। मक्का, कोदो, कुटकी, ज्वार, धान की फसलें पकने लगीं। उन्होंने अपने खेतों के आसपास फलदार पेड़ों को भी बचाया। कुल मिलाकर, उनकी गुज़र-बसर होने लगी, पेट की आग बुझने लगी। उनके जीवन को जैसी राह मिल गई। इस दौरान किसी ने उन्हें खेती करने से नहीं रोका।

लेकिन उनकी ज़िंदगी में वर्ष 2005 में मुसीबत तब आ गई जब वन विभाग और सरकार ने यहां के लोगों से ज़मीनें छीनकर बोरी अभयारण्य के विस्थापित धांई गांव के निवासियों को दे दीं। धांई को टाइगर प्रोजेक्ट के तहत सरकार ने वहां से हटाकर डोबझिरना के पड़ोस में बसाया गया। इसके लिए लगभग 40 हजार पेड़ भी काटे गए। डोबझिरना के लोगों ने अपनी ज़िंदगी बचाने के लिए काफी संघर्ष किया। इस क्षेत्र में कार्यरत किसान आदिवासी संगठन व समाजवादी जन परिषद के नेतृत्व में महात्मा गांधी के रास्ते पर चलकर सत्याग्रह किया। उन्होंने अपने खेतों में खड़े होकर संकल्प लिया कि जमीन पर हमारा हक है और हम इसे नहीं छोड़ेंगे। 6 मई 2005 को वन विभाग और पुलिस का संयुक्त अमला पूरे तामझाम के साथ यहां पहुंचा और खेतों में ट्रैक्टर चलाने लगा। जब गांववालों ने उन्हें ऐसा करने से मना किया तो पुलिस ने उन्हें लाठियों, लात-घुंसों से बहुत मारा-पीटा। पिटनेवालों में औरतें और बच्चे भी शामिल थे। यहां का 7वीं कक्षा का छात्र छतरपाल बताता है कि जब पुलिस और वन विभाग के लोग हमारे खेतों को जोत रहे थे तब मैं महुआ के पेड़ के नीचे अपने दोस्तों के साथ खड़ा था। नाकेदार फसल पर ट्रैक्टर चलवा रहा था। हमारे गांववाले ट्रैक्टर के आगे लेट गए, मैं भी उनके साथ था। हमें मार-मारकर भगाया। हमें बहुत बुरा लगा। इस तरह



की कहानियां किशनलाल, अंतरसिंह, भागराम, वीरेन्द्र, रामसुख और कलसिया आदि स्कूली बच्चों ने भी सुनाई। गांववालों के अनुसार उन्होंने अपनी तरफ से न किसी को गाली दी, न किसी पर हाथ उठाया और न ही पत्थर फेंका। वे ट्रैक्टर को रोकते रहे और मार खाते रहे। इसके बाद उन्होंने होशंगाबाद कलेक्ट्रेट में धरना भी दिया। भोपाल और दिल्ली तक भागदौड़ की, उच्च न्यायालय का दरवाज़ा भी खटखटाया पर ज़मीन नहीं बचा सके।

यहां के चेताराम का कहना है कि जब धांई के लोग

जब पुलिस और वन विभाग के लोग हमारे खेतों को जोत रहे थे तब बच्चे महुआ के पेड़ के नीचे सहमे खड़े थे।

शुरुआत में यहां जगह देखने और उसकी साफ-सफाई करने आए थे तो हमारे घर पर ही रुके थे। वे हमारी जाति के हैं और रिश्तेदार हैं। वे हमारे भाई हैं। हमने उन्हें अपने घरों पर रुकाया था और उनकी मदद की थी पर वन विभाग ने उन्हें हमारी ही ज़मीन दे दी। यह अलग बात है कि हमारे पास ज़मीन का पट्टा नहीं था लेकिन हम बरसों से उस पर खेती कर रहे थे। तब वन विभाग ने भी हमें खेती करने से नहीं रोका था और अचानक हमारी ज़मीन धाँई के लोगों को दे दी। यदि वन अधिकार कानून 2 साल पहले बन जाता तो इस ज़मीन पर हमें अधिकार मिल जाता।

ग्रामीणों का कहना है कि उनके पास ज़िंदा रहने के लिए मेहनत-मज़दूरी के अलावा कोई और चारा नहीं है। महिलाएं जंगल से सिरगट्टे (लकड़ी के गट्टे) बेचकर अपने बच्चों का पेट पाल रही हैं जिसमें दो दिन का समय और कड़ी मेहनत लगती है। सिर पर बोझा रखकर 8 किलोमीटर दूर सेमरी हरचंद में बेचना पड़ता है, जंगल से लाने की मेहनत तो अलग ही है।

इन दोनों गांवों के बीच दूरियां बढ़ गई हैं। लोग एक-दूसरे से न तो बात करते हैं और न ही एक-दूसरे को देखना पसंद करते हैं। न एक दूसरे के गांव में आते-जाते हैं और न कभी एक-दूसरे के तीज-त्यौहार में शामिल होते हैं। किसान आदिवासी संगठन के फागराम कहते हैं कि इस स्थिति से बचा जा सकता था, वन विभाग धाँई के लोगों को दूसरी ज़मीन दे सकता था। आज हालत यह है कि वे एक-दूसरे के खिलाफ खड़े कर दिए गए हैं।



सामान्य तौर पर विस्थापन का समाधान पुनर्वास बताया जाता है लेकिन यह इतनी आसान बात नहीं है जितनी ऊपर से दिखती है। यह एक उलझी हुई प्रक्रिया है। जैसे, बोरी अभयारण्य के गांव धाँई के लोगों को बसाने के लिए पहले से बसे डोबझिरना के लोगों को ज़मीन से बेदखल किया गया। यानी एक विस्थापित गांव का पुनर्वास या



व्यवस्थापन करने के लिए दूसरे गांव को विस्थापित किया गया। बड़ी संख्या में पेड़ काटे गए। इस सम्बंध में जाने-माने पत्रकार भारत डोगरा ने टिप्पणी करते हुए लिखा है कि यह विडंबना ही है कि वन्य जीव बचाने की किसी योजना की शुरुआत जंगल काटकर की जाए। और इस सबके बावजूद धाँई का

पुनर्वास ठीक से नहीं हुआ है। यहां के लोग आज भी मज़दूरी कर पेट पाल रहे हैं और महिलाएं सिरगट्टे बेचने को मजबूर हैं।

समाजवादी जन परिषद के राष्ट्रीय अध्यक्ष सुनील कहते हैं कि वन्य प्राणी संरक्षण की वर्तमान योजनाएं दोषपूर्ण हैं। वन्य प्राणी संरक्षण की योजनाओं में आदिवासियों की भागीदारी की सोच नहीं है। उल्टे उन्हें अपने पारंपरिक अधिकारों से वंचित कर विस्थापित किया जा रहा है। इससे न वन बचेगा और न ही वन्य प्राणी। हम सिर्फ वन विभाग के भरोसे जंगल और जंगली जानवर को नहीं बचा सकते। उन्होंने सवाल किया कि एक गांव धाँई को बसाने के लिए इतना जंगल काटना पड़ा और दूसरे आदिवासियों पर अत्याचार करना पड़ा तो सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व के 75 गांवों को बाहर लाकर बसाने के लिए कितना जंगल काटना पड़ेगा? इससे पर्यावरण बचेगा या नष्ट होगा? उनका कहना है मनुष्य और वन्य प्राणियों में क्या टकराव है, इसका अध्ययन नहीं हुआ है। यह एक अंधविश्वास है। इसका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है। वन्य जीव संरक्षण के लिए विस्थापन का कोई औचित्य नहीं है। शेर बचाने के लिए आदिवासियों को जंगल से भगाने की ज़रूरत नहीं है। वे तो हजारों सालों से साथ-साथ रहते आए हैं। शेरों का शिकार तो बाहरी लोगों (राजाओं, नवाबों, अंग्रेज़ अफसरों) ने किया। शेरों के प्राकृतवास यानी जंगल को नष्ट करने का काम भी बाहरी दबावों तथा सरकारी नीतियों से हुआ। जो अपराध आदिवासियों का नहीं है, उसकी सज़ा उन्हें क्यों दी जा रही है?

नीमघान

अमीरों का सैर-सपाटा, आदिवासियों के जीवन में अंधेरा

“बचपन की बहुत-सी अच्छी यादें हैं। हम जंगल से माहुल के फल खाते थे। अचार, तेंदू, महुआ खाते थे। नदी में कूद-कूदकर नहाते थे। वहां ठंडा वातावरण रहता था, पेड़ों की छांव में खेलते थे। लेकिन अब हमारी पूरी ज़िंदगी बदल गई है। अब सिरगट्टा बेचने के अलावा दूसरा कोई काम ही नहीं है। न हम कभी ढंग से पढ़े और न ही कभी मौका मिला।” यह कहना है इंदिरा नगर के जबरसिंह का। सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान बनाते समय जब उसके गांव नीमघान को विस्थापित किया गया था तब उसकी उम्र 8-9 साल की थी।



मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले में सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान बनाते समय वर्ष 1981 के आसपास नीमघान नामक गांव को विस्थापित किया गया। लेकिन विस्थापितों का कोई व्यवस्थित पुनर्वास नहीं किया गया। आज नीमघान से उजड़े लोग इंदिरा नगर, बिरजी खापा, नयाखेड़ा, नांदकोट, आंजनढाना, राईखेड़ा आदि कई गांवों में बिखरे पड़े हैं। इंदिरा नगर में बसे लोगों का कहना है कि न तो उन्हें कोई मुआवज़ा मिला और न ही कोई ज़मीन। मकान बनाने के लिए इंदिरा आवास योजना के अंतर्गत 1500 रुपए अलबत्ता मिले, शायद इस कारण ही इसका नाम इंदिरा नगर पड़ गया। इसके अलावा उनकी किसी ने कोई खोज-खबर नहीं ली।

नीमघान आज पर्यटन स्थल बन गया है, जिसका नाम पर्यटन विभाग के रंगीन फोल्डरों में शुमार है। आज वहां वन विभाग के नाके बन गए हैं। जंगली जानवर देखने के लिए पर्यटकों का आना-जाना होता है। लेकिन इस जगह पर कोई गांव था, यहां लोग रहते थे, उन्हें उजाड़कर और उनकी ज़िंदगियों को बरबाद करके यह सैर-सपाटा हो रहा है, यह किसी को पता नहीं चलता। किंतु यह सब नीमघान से उजड़े लोगों के ज़ेहन में ताज़ा है। वह उन्हें ऐसे याद है, जैसे कल की बात हो।

जबर सिंह का कहना है, “*वहां पर हम बड़ी संख्या में मवेशी पालते थे। गाय, भैंस रखते थे। घर में ख़ूब दूध-घी होता था। घी इतना होता था कि खाते भी थे, उसी से सब्जी का तड़का लगाते थे। हाथ, पैर और सिर में भी घी ही चुपड़ते थे। इससे पोषण भी मिलता था, इसे पचमढ़ी और मटकुली के बाज़ार में बेचते भी थे।*”



मवेशी जंगल में चरते रहते थे, उन्हें चराने के लिए चरवाहे की ज़रूरत नहीं थी। मवेशियों का रास्ता जाना-पहचाना था, वे दिन भर इधर-उधर चरने के बाद शाम को घर आ जाते थे। ये मवेशी उनके फिक्स्ड डिपॉज़िट की तरह भी थे, जिन्हें बेचकर वे तत्काल अपनी ज़रूरतें

पूरी कर सकते थे। लेकिन इंदिरा नगर में चारे-पानी की समस्या है, जो मवेशी वहां से लेकर आए थे, वे भी यहां आकर जल्दी ही मर गए।

वे आगे बताते हैं, “कुछ बरसों तक हमारा कोई ठौर-ठिकाना नहीं था। पहले हम खैरी गांव में रहे, वहीं हमारे पिताजी और हमारा परिवार मज़दूरी करके पेट पालता था। फिर डापका में पुराने कोरकू मालगुज़ार की अटारी में रहे। एकाध कक्षा में स्कूल भी गया लेकिन हमारी कई समस्याएं थीं, पढ़ने-लिखने की बात तो बहुत दूर की है।”

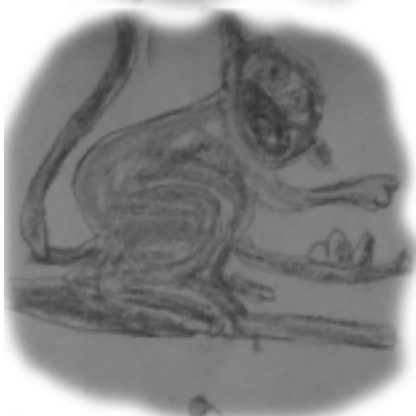
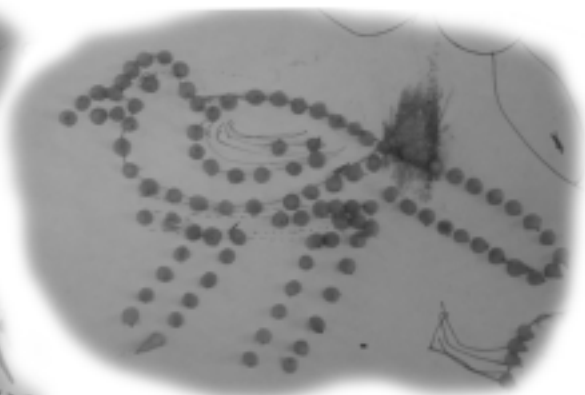
जबरसिंह के पिता लखन दादा का कहना है, “वहां हम दहिया (झूम खेती) करते थे। खूब कुटकी पकती थी। साल भर भोजन की ज़रूरत इससे पूरी हो जाती थी।” यानी दहिया से उन्हें खाद्य सुरक्षा मिलती थी। झूम खेती का तरीका यह है कि बारिश के पहले लैंटाना (विदेशी खरपतवार, इसे स्थानीय बोली में जुंरंटा भी कहते हैं) या छोटी-मोटी झाड़ी काटकर जंगल की ज़मीन पर बिछा देते हैं और उसमें आग लगा देते हैं। चाहे उस जगह पर पत्थर ही क्यों न हो, इस जली राख में कुटकी, कांगनी फेंक देते हैं। पानी गिरता है तो वह उग जाती है। बाद में दो-तीन बार निंदाई-गुड़ाई करनी पड़ती है और फसल पक जाती है बस।

इस झूम खेती में एक या दो साल में जगह बदलनी पड़ती है। इसलिए इसे अंग्रेज़ी में *शिफ्टिंग कल्टीवेशन* कहते हैं। एक परिवार एक या दो जगह चिन्हित कर लेता है और बारी-बारी से वहां खेती करता है। इसमें किसी का मालिकाना हक नहीं होता। इसमें भूमि स्वामित्व जैसा कुछ नहीं होता। लेकिन अब झूम खेती पर रोक लगा दी गई है। उनका कहना है कि उजाड़ते समय तो ज़मीन देने और मुआवज़ा के वादे किए गए लेकिन उसके बाद से किसी ने इधर लौटने की भी ज़रूरत नहीं समझी। इस सबका हमारे बच्चों की परवरिश पर भी बहुत असर पड़ा। न हम उन्हें ढंग से खाना खिला सके, न पढ़ा सके।

यहां के अधार सिंह ने बताया कि उनकी दो लड़कियां और एक लड़का है। वे अपने बच्चों को कैसे पढ़ाएं? “जब बच्चे छोटे थे तब हम भी सिरगट्टा बेचते थे और हमारे बच्चे भी। चूंकि वे छोटे थे इसलिए उन्हें छोटी पुटरिया (छोटा गट्टा) देते थे। हम सब सिरगट्टा बेचने के लिए पिपरिया जाते हैं जो यहां से करीब 12 किलोमीटर दूर है।” इसके पहले जंगल में घूम-घूमकर सूखी लकड़ियां इकट्ठी करनी पड़ती है, जिसमें

काफी समय लगता है। यहां की बिरिया बाई बताती हैं, “जब तक हम सुबह जंगल जाते थे और पिपरिया लकड़ी बेचकर नहीं आ जाते थे, तब तक छोटे बच्चे अपनी मां से अलग रहते थे।”

वैसे आजकल उनकी लड़की का बड़ा लड़का कल्याण सिंह पढ़ रहा है। वह मटकुली छात्रावास में रहकर पढ़ रहा था, अब पिपरिया में पढ़ेगा। कल्याण का भाई भी पढ़ रहा है। जबरसिंह की बेटी सुषमा 7वीं कक्षा पिपरिया छात्रावास में पढ़ रही है। कुछ बच्चे पढ़ने के साथ-साथ लकड़ी भी बेचते हैं। ये कितना आगे तक पढ़ पाएंगे, उनके मां-बाप को यह सवाल निरुत्तर कर देता है। अब तक गांव से केवल विमलेश नाम का एक युवक ही महाविद्यालय में प्रवेश पा सका है। आगे भी रास्ता आसान नहीं है।



इंदिरानगर

न वे ढोल हैं, न वह मस्ती है

“जब कोई किसी चिड़िया का घोंसला नष्ट कर देता है, उसे नया घोंसला बनाने में कितनी मुश्किल होती है। फिर हमारा तो पुराना घर था, ज़मीन थी, पेड़ों की घनी छांव थी। वहां का ठंडा वातावरण था। हमें वहां से हटा दिया, न कोई मुआवज़ा मिला, न ज़मीन। 30 साल बाद भी हमें बार-बार पुराने गांव की वैसी ही याद आती है, जैसे यह कल ही की बात हो।” यह कहना है इंदिरा नगर के मंशाराम का।

जब नीमघान से इस गांव के लोगों को हटाया गया तब मंशाराम बहुत छोटा था। लेकिन उसने अपने पिताजी लखन सिंह और अन्य लोगों से नीमघान के बारे में काफी सुना है। उसकी कहानियां सुनी हैं। वह नीमघान कई बार जा भी चुका है।



इसी इलाके में हर्राकोट का ज़मींदार भभूतसिंह रहता था। अंग्रेज़ों से उसने जंगल के अधिकार की लड़ाई लड़ी। भारत के इतिहास में इसी ज़मींदार से जंगल छीनकर पहला आरक्षित वन बनाया गया। 1861 में उसे धोखे से पकड़कर जबलपुर जेल में फांसी दे गई। 1862 में बोरी

देश का पहला आरक्षित जंगल बनाया गया। मंशाराम के अनुसार नीमघान में भभूतसिंह की गुफा भी है। यानी इस इलाके के साथ एक संघर्ष का इतिहास भी जुड़ा है। इंदिरा नगर डापका ग्राम पंचायत में आता है, वहां कोरकू राजा की पुरानी हवेली है। यहां की निवासी रेबाबाई अपने आपको भभूतसिंह का वंशज बताती हैं।

यह पूछने पर कि क्या उनके बच्चे वहां पढ़-लिख पाते, मंशाराम ने कहा, “यहां कौन से पढ़ पा रहे हैं, इतने सालों बाद भी रोज जंगल जाना, जलाऊ लकड़ी का गट्ठा लाना, उसे बेचना और फिर राशन लाकर पेट भरना, यही दिनचर्या है।”

लेकिन मंशाराम की बात सही होने के बावजूद अब पहले जैसा वातावरण नहीं रहा।

जंगल क्षेत्र में रहने वाले लोग भी पढ़ाई-लिखाई के महत्त्व को समझते हैं। अपने बच्चों को पढ़ाना चाहते हैं। कई पढ़ा भी रहे हैं। लेकिन हमारी शिक्षा व्यवस्था की छत्री ही ऐसी है उसमें ये बच्चे पिछड़ जाते हैं। जाने-माने पत्रकार पी. साईनाथ लिखते हैं कि हमारे देश में स्कूली आयु के प्रत्येक 100 बच्चों में से लगभग 70 बच्चे पहली कक्षा में पढ़ते हैं। इनमें से आधे प्राइमरी स्कूल की पढ़ाई करने से पहले ही स्कूल छोड़ देते हैं। बाकी 35 में से 10 से भी कम कक्षा आठ से ऊपर पहुंचते हैं। अंत में पांच से कम हाईस्कूल तक पहुंचते हैं। आदिवासियों में साक्षरता बहुत कम है। अब तक इंदिरानगर से विमलेश को छोड़कर कोई महाविद्यालय तक तो क्या हाईस्कूल तक भी नहीं पहुंचा।

नीमघान में लोग श्रावण, हरिज्योति और पोला त्यौहार बड़ी धूमधाम से मनाते थे। दीवाली और होली में उमंग और उत्साह होता था। बड़े-बड़े ढोल बजते थे। एक गोल घेरे 15 व्यक्ति होते थे, सबके पास ढोल होते थे। वे बजाते थे और खूब मस्ती से नाचते-गाते थे। अब यहां किसी के पास ढोल नहीं है। उन्हें इसकी बहुत याद आती है। लखन दादा जैसे कुछ बुजुर्ग लोग हैं, उनका जब कभी गाने का मन करता है तब खुद ही गुनगुना लेते हैं। न अब गाने वाले लोग हैं और न ही वे ढोल हैं। पहले ये उनकी सरल जीवन शैली के अभिन्न अंग थे।

अब जंगल वाले इलाके में ढोल वगैरह बजाने पर अप्रत्यक्ष रूप से रोक लग गई है। इसके पक्ष में दलील दी जाती है कि जंगली जानवर चमकते हैं। जंगलों को मनुष्यविहीन इसलिए किया जा रहा है कि आदिवासियों के रहने से शेरों को खतरा है। जबकि आदिवासी और शेर बरसों से साथ-साथ रहते आए हैं। मंशाराम कहता है कि जंगली जानवर खुद जंगलों में गांवों के आसपास ही रहना पसंद करते हैं।

नई धाई के बच्चे भी बड़े रोमांच और उत्साह से नदी और जंगल के बारे में बताते हैं। बचपन की इन सुखद स्मृतियों का पन्ना उनके जीवन में अभिन्न रूप से जुड़ा रहेगा। लेकिन वे सदैव विस्थापन की पीड़ा का एहसास कर ज़िंदगी जीने को मजबूर होंगे। विस्थापन सिर्फ भौतिक रूप से ही नहीं होता, मानसिक भी होता है। इससे पैदा हुए खालीपन को सिर्फ नगद पैसों और ज़मीन (वह भी नहीं मिली) से नहीं भरा जा सकता। खास तौर से बच्चे अपने बचपन के दिनों को कभी नहीं भुला पाते। जहां उनका जन्म हुआ है, जिन गलियों में खेले-कूदे और बड़े हुए हैं, वे मन में बसी रहती हैं। विस्थापन

काजरी-रोरीघाट

ललतान की दहिया में क्या बुरा है?

“पहले हम दहिया (झूम) खेती करते थे। खूब कुटकी पकती थी। रामबुहारी बनाते थे, शहद तोड़ते थे, ढोर (मवेशी) रखते थे। घी खाते और बेचते थे। लेकिन अब वन विभाग ने दहिया पर रोक लगा दी है। जंगल में ढोर चराने पर रोक लगाई जा रही है। रामबुहारी कम हो गई है, शहद भी कम मिलती है। ऐसे में आगे ज़िंदा कैसे रहेंगे?” यह सवाल है काजरी गांव के शंकरलाल, कोमल, नेपालसिंह और उजयार सिंह का।

काजरी



काजरी एक पहाड़ी कोरकू आदिवासी गांव है जो सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान के अंदर है। सतपुड़ा की रानी पचमढ़ी की सबसे ऊंची चोटी धूपगढ़ से होकर काजरी के लिए रास्ता है। पचमढ़ी से इसकी दूरी 22-23 किलोमीटर है। इसके पहले एक गांव रोरीघाट है, जो पचमढ़ी से 18 किलोमीटर दूर है। यहां पहुंचने का रास्ता पैदल है। अब जंगल विभाग ने कच्ची सड़क भी बना दी है। ऊंचे-नीचे पहाड़ी रास्तों से यहां पहुंचना रोमांचक और अद्भुत था।

यहां के लोगों की जीविका का मुख्य स्रोत वनोपज और नागद्वारी मेले से होनेवाली आय है। पहले दहिया (झूम खेती) होती थी, जो साल भर खाद्य सुरक्षा प्रदान करती थी। झूम खेती के बारे में गांववाले बताते हैं

कि उसे करने का तरीका यह है कि बारिश के पहले ललतान या छोटी झाड़ी काटकर जंगल की ज़मीन पर बिछाकर उसमें आग लगा देते हैं। चाहे उस जगह पर पत्थर ही क्यों न हों। जब झाड़ियां जलकर राख हो जाती हैं, तो उसी राख में कुटकी, कांगनी फेंक देते हैं। पानी गिरता है तो वह उग जाती है। बाद



में दो-तीन बार निंदाई-गुड़ाई करनी पड़ती है और फसल पक जाती है, बस। इस तरह खेती में एक-दो साल में जगह बदलनी पड़ती है। इसलिए इसे अंग्रेजी में *शिफ्टिंग कल्टीवेशन* कहते हैं। एक परिवार एक या दो जगह चिन्हित कर लेता है और बारी-बारी से वहां खेती करता है। इसमें किसी का मालिकाना हक या भूमि स्वामित्व जैसा कुछ नहीं होता।

वैसे भी आदिवासियों में यह सोच (भूमि स्वामित्व) नई है। गांववालों ने बताया कि हर साल उनकी जोतने-बोने की क्षमता पर ज़मीन का रकबा भी बदलता रहता था। लेकिन अब करीब दो दशकों से यहां दहिया बंद है। वन विभाग ने यह कहकर इस पर रोक लगा दी है कि इससे जैव विविधता का नाश होता है। दूसरी ओर, गांव के लोग कहते हैं कि हम तो ललतान को जलाकर यह खेती कर रहे थे, जिसे वन विभाग खुद खत्म



करना चाहता है। अंग्रेजी में इसे लेन्टाना कहते हैं। यह एक विदेशी खरपतवार है। यह पूरे देश में फैल गई है और सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान के घने जंगलों में भी पहुंच गई है। इसकी वजह से अन्य वनस्पति नहीं पनप पाती हैं। वन विभाग इसे नष्ट करने में लाखों रुपया खर्च करता है। काजरी के आदिवासियों का कहना है कि इसे हम काटकर जला रहे हैं, तो क्या गलत कर रहे हैं? दहिया लोगों के पेट भरने का मुख्य साधन थी। उसमें कुटकी खूब पकती थी। अब मुश्किल हो रही है।

यहां रामबुहारी भी कम हो गई है। इससे वे झाड़ू बनाकर बेचा करते थे। रामबुहारी एक प्रकार की घास होती है

जिसके तिनकों को एक साथ बांधकर नरम बुहारियां बनाई जाती हैं। इनको खरीदने के लिए ठेकेदार गांव में ही पहुंचते हैं या आदिवासी खुद पचमढ़ी में बेचने आते हैं। आम तौर पर ठेकेदार कम पैसों में इन्हें खरीदते हैं और फिर ज़्यादा पैसों में बेचते हैं। लेकिन अब यह घास भी कम होने लगी है।

इसके अलावा शहद तोड़ने का काम भी करते हैं। यह जोखिम भरा काम है। मधुमक्खी के बड़े-बड़े छत्ते पहाड़ों में लगते हैं। इसे वे झूला लगाकर तोड़ते हैं। महुआ बीनते हैं, आम एकत्र करते हैं। पहले वे अभाव के दिनों में आम की गुठली के आटे की रोटी भी खाते थे। ढोर रखते हैं। ललतान की वजह से ढोरों को चरने के लिए घास भी कम मिलती है।

गांव के लोगों ने बताया कि वन विभाग वाले कुछ दिन पहले हमारे स्वेच्छा से हटने का फार्म भरवा कर ले गए हैं। हालांकि उन्होंने कहा कि हम हटना नहीं चाहते। उनके कई सवाल व आशंकाएं हैं। क्या उन्हें बाहर ऐसा जंगल, ऐसी आबोहवा और आज़ादी मिलेगी। उनके यहां पीने का पानी साल भर झरने से (बिना बिजली के) आता है। ऊपर झरने से पानी लाने की व्यवस्था खुद वन विभाग ने की है।

रोरीघाट

रोरीघाट के लोग पिछले साल तक दहिया खेती करते थे। अब इस पर पूरी तरह रोक

लगा दी गई है। वैसे तो वन विभाग की तरफ से हटने के लिए ज़्यादा दबाव नहीं बनाया जा रहा लेकिन यह कहा जाता है कि जाना तो पड़ेगा, आज नहीं तो कल। इससे गांववाले मायूस हैं। उन्होंने कहा कि आज तक हम पर शिकार का कोई मामला नहीं है, फिर हमें क्यों हटाया जा रहा है? यह इसी गांव के नहीं, ज़्यादातर गांव के लोगों का कहना है। बल्कि आदिवासी वन्य प्राणियों को बचाने में मददगार हो सकते हैं और अगर वन विभाग अपना रुख बदले तो वे और मदद कर सकते हैं क्योंकि आदिवासी वनों व वन्य प्राणियों के सबसे नज़दीक रहते आए हैं व इस कारण उन्हें इनकी सबसे अच्छी जानकारी होती है।



इसमें सबसे बड़ी समस्या यह आ रही है कि बाघ बचाने के लिए कुछ संरक्षित क्षेत्र घोषित किए जा रहे हैं और वहां से लोगों को हटाया जा रहा है। उनकी रोज़ी-रोटी छीनी जा रही है। जैसे काजरी-रोरीघाट के लोगों की दहिया खेती बंद कर दी गई है। वनोपज संग्रह पर भी रोक लगाई जा रही है। इससे बिना वजह आदिवासियों में असंतोष और टकराव पैदा किया जा रहा है, जो किसी भी तरह से उचित नहीं है। यह नीति न आदिवासियों के हित में है, न वन्य जीवों के। दरअसल, उजड़ रहे जंगल को उनके सहयोग से हरा-भरा बनाया जा सकता है, वन संरक्षण पर प्रभावी ढंग से काम किया जा सकता है। ठीक उसी तरह जैसे तवा जलाशय में मछली और जल जीव संरक्षण को लेकर मछुआ सहकारिता के माध्यम से आदिवासियों ने किया था। जंगलों में आग नियंत्रण में तो उनकी महत्वपूर्ण भूमिका है ही।

वनविभाग अपने दम पर जंगल और जंगली जानवर बचा सकता है क्या? इसके जवाब में माना के एक बुजुर्ग आदिवासी ने बताया कि जब बड़े-बड़े शिकारी आ जाएंगे, उनके सामने वे कुछ नहीं कर सकते। जंगल की आग कौन बुझाएगा? पर्यावरण और विकास के मुद्दों पर सतत् लेखन करने वाले जाने-माने पत्रकार भारत डोगरा का भी मानना है कि अब इसमें दो राय नहीं है सिर्फ आदिवासियों के सहयोग से ही वन्य जीव बचाए जा सकते हैं।

नयाखेड़ा

चालीस साल बाद लकड़ी गट्टे ही बेचना है

“मैं वहां 5वीं कक्षा में पढ़ता था। हमारे गांव से भूता दादा 10-12 बच्चों को पिपरिया स्कूल छोड़ने जाते थे, जो हमारे गांव से 3 किलोमीटर दूर था। इन बच्चों में उनके घर का एक लड़का भी शामिल था। उनकी बच्चों को पढ़ाने में बेहद दिलचस्पी थी। उसके बाद हमारा गांव तवा बांध से उजड़ गया। सब कुछ बदल गया। हम यहां नई जगह आ गए। घर, पड़ोसी, गली-मोहल्ला, परिवेश, रहन-सहन सब कुछ बदल गया। इस बीच कई तरह के काम करने पड़े। इस सबमें पढ़ाई पीछे छूट गई, आज भी गांव के बच्चे ढंग से पढ़ नहीं सकते, बिजली तक तो नहीं है।” यह कहना है नयाखेड़ा के दर्शन सिंह उइके का।

दर्शन सिंह तवा बांध से विस्थापित केसला विकासखंड के एक गांव जीजाडोह से उजड़े हैं, अब वे मध्यप्रदेश के होशंगाबाद ज़िले की बाबई तहसील में नयाखेड़ा डोलरिया में रहते हैं। दर्शन सिंह की आज एक टांग है, दूसरी टांग रीछ (भालू) ने तोड़ दी। फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। वे आज बड़ईगिरी का काम कर रहे हैं। उनके ज़ेहन में अपने पुराने गांव की बहुत सी स्मृतियां हैं। स्कूल, शिक्षक, सहपाठी, खेती-किसानी,

गाय, भैंस, बकरी, सब कुछ।

तवा बांध 70 के दशक में बनने वाले भारत के पहले बांधों में से एक है। देश की हर बड़ी परियोजना की तरह यह भी विदेशी सहयोग से बनी। तवा बांध से 44 गांव विस्थापित हुए। इन्हें नाममात्र का मुआवज़ा मिला। एक अनुमान के मुताबिक उन्हें 18 रुपए प्रति



एकड से लेकर 150 रुपये प्रति एकड तक का मुआवज़ा दिया गया था। ज़मीन के बदले ज़मीन मिलना तो दूर, ज़मीन पर खड़े वृक्षों, कुओं आदि के कीमत भी नहीं मिली। दर्शन सिंह बताते हैं, “जब हमें जीजाडोह से भगाया तब हम छोटे-छोटे थे। हमें कहीं व्यवस्थित तो बसाया नहीं गया, न ही कोई ज़मीन दी गई। जिसको जहां जगह मिली वहीं बस गया।” जब उनका गांव उठकर यहां आया तो 5-6 साल तक तो न तो काम का ठिकाना था और न ही व्यवस्थित रहने का। परिवार के बड़े सदस्य मेहनत-मज़दूरी करते थे। बहुत ही कम मज़दूरी मिलती थी। सिरगट्टा बेचना ही एकमात्र सुलभ रोजगार था। महिलाओं के लिए भी यही पेटपालन का ज़रिया है। “यही बेच-बेचकर हमारे बाल पक गए। पढ़ाई तो छूट ही गई।”



उनके मुताबिक जब वे वन विभाग में मेटगिरी (एक तरह की चौकीदारी) करते थे। एक दिन चेक डैम का काम चल रहा था। पेड़ों की आड़ में मादा रीछ छुपी थी, उसने उन पर हमला कर दिया जिससे दर्शनसिंह पैर की हड्डी टूट गई। बाद में इलाज के लिए इधर-उधर भटकते रहे। अंत में उन्हें अपना पैर गंवाना पड़ा। आज

वे बड़ईगिरी कर अपने परिवार का भरण-पोषण करते हैं। वे कहते हैं, “हम उजड़े लोगों की किसी ने सुध नहीं ली।”

80 के दशक में समाजवादी विचारधारा से जुड़े कुछ युवाओं ने विस्थापितों के साथ मिलकर किसान आदिवासी संगठन का गठन किया। इस संगठन ने विस्थापितों की लंबी लड़ाई लड़ी और जीती। वर्ष 1996 में तवा बांध में मछली का अधिकार हासिल हुआ।

10 सालों तक आज के निजीकरण और सरकारीकरण के बीच सहकारिता का अनूठा सफल कार्य किया। लेकिन अब सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व में तवा जलाशय को शामिल कर लिया गया है और मत्स्याखेट पर रोक लग गई है। हालांकि यह गांव मछली

समितियों में शामिल नहीं था लेकिन इस संगठन ने दर्शनसिंह पर भालू के हमले का मुद्दा उठाया और मुआवज़ा भी दिलवाया।

आज इस गांव के सामने एक और समस्या आ खड़ी हुई है। नयाखेड़ा के जगदीश प्रसाद उइके बताते हैं कि सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व से दो गांवों - धाई और बोरी - को हटाकर इनके गांव के नज़दीक ही बसाया जा रहा है। इससे जिस जंगल से इस गांव का निस्तार होता था, वह प्रभावित होगा। वह भी उनसे छीना जा रहा है। यानी जो जंगल है उस पर जन दबाव ज़्यादा पड़ेगा।

यहां बताना उचित होगा कि धाई गांव को बसाने के लिए डोबझिरना के लोगों की ज़मीन ली गई, जो पहले खुद छिंदवाड़ा ज़िले से बरसों पहले रोज़ी-रोटी की तलाश में यहां आए थे और यहीं रहकर खेती कर रहे थे। इस तरह दो गांवों में आपसी तनाव पैदा हो गया है।

यहां के दलीप सिंह बताते हैं, “जब जीजाडोह से आए थे, उस समय मैं गाय, बैल और बकरी चराता था। स्कूल तो कभी जा ही नहीं पाया। यहां आकर परिवार के रोज़ी-रोटी के संघर्ष में शामिल हो गया। यहां आकर जल्दी ही चारे-पानी की कमी की वजह से मवेशी मर गए। फिर केवल मज़दूरी के भरोसे रह गए। हमारी पूरी ज़िंदगी ही बदल गई।”

यहां की छोटी बाई ने बताया कि गांव में बिजली नहीं है। जब हम उनके घर गए तब वे धान को साफ कर ओखली में कूट रही थीं। इसी तरह उन्होंने कोदो और मक्का को हाथ की चक्की में पीसकर उनके आटे से रोटी बनाई थी। उन्होंने कहा कि बिजली न होने से बच्चों की पढ़ाई भी नहीं हो पाती। वे कहती हैं, “हम क्या करें, सिर्फ सिरगट्टा ही बेच सकते हैं, वही बेच रहे हैं।” वैसे कुछ समय पहले उन्हें थोड़ी-सी ज़मीन का अधिकार पत्र मिला है।

यहां 5वीं तक स्कूल है पर अप्रैल के पूरे महीने बंद था। गांववासियों का कहना है कि अप्रैल में एक-दो दिन स्कूल ज़रूर लगा, उसके बाद से बंद है। गांव के जगदीश प्रसाद उइके ने स्कूल में ढंग से पढ़ाई न होने पर नाराज़गी जताई। उन्होंने कहा, “हमारे बच्चों के लिए आंगनवाड़ी नहीं है, कुछ दूर डोलरिया में है, जहां हमारे बच्चे नहीं जा पाते।” यानी बच्चों का भविष्य भी उज्ज्वल नहीं है। और सही भी है कि जब वर्तमान ही

अंधकारमय है तो भविष्य उज्ज्वल कैसे होगा।

समाजवादी जन परिषद के तत्कालीन राष्ट्रीय अध्यक्ष और इस क्षेत्र में किसान-आदिवासियों के हक और इज़्जत के संघर्ष में शरीक रहने वाले सुनील का कहना है कि राजस्व गांवों के पट्टेवाली जमीन का तो कुछ मुआवज़ा दिया गया, वनग्राम के लोगों को मुआवज़ा नहीं मिला। वे लोग भी मुआवज़े से वंचित रहे जिनके पास ज़मीन के पट्टे नहीं थे। वैसे जो मुआवज़ा मिला वह भी बहुत कम था।

कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है विस्थापन एक बड़ी घटना है जिसका कई-कई तरह से असर होता है। खास तौर से आदिवासियों के विस्थापन से उनकी संस्कृति, रहन-सहन, खान-पान, आस-पड़ोस, काम-धंधा, दिनचर्या सब कुछ बदलता है। इस चक्कर में बच्चों की दुनिया भी उजड़ जाती है। दर्शन सिंह जो उस समय चौथी कक्षा में थे, विस्थापन के बाद सीधे मज़दूरी में लग गए। जिन महिलाओं ने पहले सिरगट्ठा नहीं बेचा था, वे अब सिर पर बोझ लादे जलाऊ लकड़ी बेच रही हैं। आज भी नयाखेड़ा में बिजली नहीं है जिसकी रोशनी में बच्चे पढ़ सकें? इन सबके मद्देनजर इस क्षेत्र के संवेदनशील कवि वीरेन्द्र विस्थापितों के दर्द पर पूछते हैं कि *काहे बरस रहे डबडब नैना, काहे हुमस रहे गांव?*

तवा के मछुआरे

मालिक से वापस चोर

लगभग 14 साल पुरानी बात है। तवा बांध से विस्थापित मादीखोह गांव का आदिवासी युवक सब्बूलाल सब्जी के लिए जलाशय में मछली पकड़ने गया था। ठेकेदार के आदमियों ने उसे ही मछली चोरी के जुर्म में पकड़ लिया। उससे मछली छुड़ा ली और इस हिदायत के साथ छोड़ा कि वह कभी जलाशय में कदम नहीं रखेगा। लेकिन बीच में स्थिति बदली। सब्बूलाल तवा जलाशय का मालिक बन गया। वह तवा मत्स्य संघ का अध्यक्ष बना। विस्थापित आदिवासियों को मछली का अधिकार मिल गया।

दस साल तक इस मछुआ सहकारिता ने शानदार काम किया जिसकी काफी सराहना



हुई। प्रधानमंत्री द्वारा गठित टाइगर टास्क फोर्स ने भी जलाशय में स्थानीय लोगों की भागीदारी की काफी तारीफ की है। विस्थापित आदिवासियों के इस अनूठे और सफल सहकारिता के प्रयोग ने राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर ख्याति अर्जित कर ली है। स्थानीय समुदायों द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के कुशल प्रबंधन की एक शानदार मिसाल कायम की है जिसकी चर्चा काफी होती रही है। लेकिन अब इसमें अवरोध पैदा किया जा रहा है। तवा जलाशय को राष्ट्रीय उद्यान और अभयारण्य में शामिल कर लिया गया। इसमें

मछली मारने पर रोक लग गई है। एक बार विस्थापित आदिवासी फिर विस्थापित हो रहे हैं। अगर वे मछली पकड़ते हैं तो चोर समझा जा रहा है। फिलहाल यह मामला सर्वोच्च न्यायालय में लंबित है।

उल्लेखनीय है कि मध्यप्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में तवा बांध के विस्थापित आदिवासियों को लंबी लड़ाई के बाद दस साल पहले मछली का अधिकार मिला था। लेकिन अब तवा जलाशय में मछली मारने का अनुबंध वर्ष 2006 में खत्म हो चुका है और इसका नवीनीकरण नहीं हुआ है क्योंकि इस क्षेत्र को राष्ट्रीय उद्यान व अभयारण्य में शामिल कर लिया गया है। इसमें वैधानिक रूप से मछली मारने पर प्रतिबंध है। अलबत्ता, अवैध तरीके से मछली मारने का धंधा ज़ोरों से चल रहा है। मछली चोरी का एक नेटवर्क विकसित हो गया है। दूसरी ओर, इसी जलाशय में भोपाल से सैर-सपाटे व जल विहार के लिए क्रूज़ बोट आ चुकी है। रिसोर्ट खोले जा रहे हैं। तवा मत्स्य संघ के संचालक व केसला जनपद उपाध्यक्ष फागराम का सवाल है, “क्या इससे वन्य प्राणियों को दिक्कत नहीं होगी?”

तवा जलाशय के दोनों किनारों पर विस्थापित बसे हैं और वे डूब की खेती और मछली पकड़कर अपना जीवनयापन करते हैं। मध्यप्रदेश के सतपुड़ा अंचल का यह पूरा इलाका विस्थापित और भगाए गए लोगों का ही बन गया है। सत्तर के दशक में तवा बांध से 44 गांव, फौजी गोला-बारूद परीक्षण के लिए बने प्रूफ रेंज से 26 गांव और आर्डिनेंस फैक्ट्री से 5 गांव उजाड़े गए। इसके अलावा, सतपुड़ा नेशनल पार्क, सारणी बिजली घर, कोयला खदानों, बंगाली कैम्प (बैतूल ज़िले में) के चलते भी आदिवासियों को हटाया गया। हज़ारों एकड़ जंगल का नाश किया गया। जैव विविधता नष्ट हुई। यहां के वन्य प्राणियों को भी भागकर पास के जंगलों में शरण लेनी पड़ी थी।

यही जंगल यहां के मूल बाशिन्दों, गोंड-कोरकू आदिवासियों, की जीविका का मुख्य आधार था। उजड़े लोगों के लिए सरकार ने ज़मीन और रोज़गार का इंतज़ाम नहीं किया। कुछ को तो मुआवज़ा भी नहीं मिला, और कुछ को मिला भी तो नाममात्र का। उनकी ज़मीनें मिट्टी मोल ले ली गई - 35 रुपए से लेकर 200 रुपए प्रति एकड़ तक। लेकिन 1985 में इन विस्थापितों के जीवन में उम्मीद की किरण जागी। किसान आदिवासी संगठन के बैनर तले इन्होंने संघर्ष की राह अपनाई। धरना, जुलूस, पदयात्राओं व आंदोलन का लंबा सिलसिला चला। एक बार तो ये आदिवासी पैदल सतपुड़ा के बाशिन्दे

भोपाल तक गए। आखिरकार, सरकार को वर्ष 1996 में इन विस्थापितों को तवा जलाशय में मछली पकड़ने का अधिकार देना पड़ा।

इस काम को करने के लिए आदिवासी बहुत दिनों से तैयारी कर रहे थे। उन्होंने पहले ही विस्थापितों की 33 मछुआरा समितियों का गठन कर लिया था। एक समिति में 20 से लेकर 60 सदस्य थे। समितियों में उन्हीं सदस्यों को लिया गया था, जो तवा बांध से विस्थापित या उससे प्रभावित हैं। इन समितियों में कुल 1200 सदस्य हैं, जिनमें से 90 प्रतिशत आदिवासी हैं। समितियों को मिलाकर तवा विस्थापित आदिवासी मत्स्य उत्पादन एवं विपणन संघ बनाया गया। संघ का पंजीयन होने के बाद ही प्रदेश सरकार से अनुबंध हुआ। इस अनुबंध के मुताबिक आदिम जाति कल्याण विभाग ने मत्स्य संघ को अपना कामकाज प्रारंभ करने के लिए 6 लाख रुपये दिए।

इस काम को व्यवस्थित करने के लिए केसला में ताकू रोड़ पर मत्स्य संघ का कार्यालय व मछली डिपो बनाया गया। यहीं से सभी गतिविधियों का संचालन किया जाता था। मछुआरा संघ सहकारी समितियों से मछली खरीदता और बेचता था। तवा जलाशय के किनारे तीन तौल केन्द्र बंगलापुरा, टेकापार और तवानगर में बनाए गए। संघ के कर्मचारी इन तौल केन्द्रों में मछली तुलवाकर समितियों के कार्ड (कैच कूपन) पर इसका वज़न नोट कर लेते थे। यह जानकारी संघ के रजिस्टर में भी दर्ज कर देते थे।

संघ के डिपो से स्थानीय व बाहरी मंडियों में मछलियां भेजी जाती थीं। संघ की 50 प्रतिशत मछलियों की खपत स्थानीय और 50 प्रतिशत मछलियों की खपत बाहरी मंडियों में होती थी। यहां की मछलियां हावड़ा, दिल्ली, लखनऊ, भुसावल की मंडियों में बिकने के लिए जाती थीं। डिपो से भी दैनिक उत्पादन रजिस्टर में मछली का विवरण रखा जाता था और उसकी एक प्रति मध्यप्रदेश मत्स्य महासंघ को दे दी जाती थी। इसके आधार पर संघ सरकार को रायल्टी का भुगतान करता था। पिछले दस वर्षों में संघ महासंघ को 1 करोड़ 31 लाख 51 हजार रुपए की रायल्टी का भुगतान कर चुका है। मछुआरों को भी साप्ताहिक भुगतान किया जाता है।

लेकिन इस मछुआ सहकारिता के अनुबंध को आगे नहीं बढ़ाया जा रहा है। आदिवासी एक बार फिर आंदोलित हुए हैं। उन्होंने अपने जीवन पर आए संकट के खिलाफ एक माह (24 नवंबर से 23 दिसंबर, 2006) तक सद्बुद्धि सत्याग्रह चलाया। वे रोज़ ज़िला मुख्यालय में आते थे और जुलूस बनाकर सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व के डायरेक्टर के

दफ्तर में जाते थे और भगवान से प्रार्थना करते थे कि वह इन अफसरों और सरकार को सद्बुद्धि दे। जुलूस के पहले वे नर्मदा नदी में स्नान कर महात्मा गांधी की प्रतिमा पर फूलमाला चढ़ाते थे। और ये आदिवासी अपने अंगूठे दस्तखत से एक ज्ञापन भी सौंपते थे कि यहां के जल, जंगल, ज़मीन पर उनका हक है। उनके जीवन पर वन विभाग द्वारा जो प्रतिबंध लगाया जा रहा है, वह गलत है। इसे उन्होंने ‘सद्बुद्धि सत्याग्रह’ का नाम दिया था। लेकिन वन विभाग और सरकार पर इसका कोई असर नहीं हुआ।

तवा जलाशय के राष्ट्रीय उद्यान एवं अभयारण्य का हिस्सा होने का बहाना करके मत्स्याखेट पर रोक लगाई गई है जबकि 2004 में होशंगाबाद के तत्कालीन कलेक्टर श्री कंसोटिया ने तवा जलाशय को सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान से बाहर रखने का निर्णय दे दिया था। यह अलग बात है कि वन विभाग ने इस पर ऐतराज़ जताया है।

तवा जलाशय में आज क्या चल रहा है, इस बारे में सारंगपुर मछुआरा समिति के ओमप्रकाश का कहना है तवा मत्स्य संघ के तहत हमारा काम 10 साल तक चला। बहुत ही अच्छा काम हुआ। लेकिन अब कोई नियम-कायदा नहीं है। खुल्लमखुल्ला मछलियां मारी जा रही हैं। छोटी-बड़ी कोई भी मछली मारो और बेच दो। फिलहाल तो ज़्यादा रोक-टोक नहीं है लेकिन इसमें सतपुड़ा नेशनल पार्क वालों की तरफ से कभी भी दिक्कत आ सकती है। हाल ही में तवानगर के एक मछुआरे राधेश्याम को अपना जाल कुछ ‘ले-देकर’ छुड़ाना पड़ा था। उनका कहना है कि तवा मत्स्य संघ के ज़माने में कोई हमसे जलाशय में ज़ोर से बात नहीं कर सकता था, अब रंगदारी चल रही है।

कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि आदिवासियों के लिए यह सफलता का एक छोटा पड़ाव था पर इससे उनका आत्मविश्वास बढ़ा। लंबी लड़ाई के बाद तवा जलाशय में मछली पकड़ने का अधिकार मिलने से आदिवासियों को राहत मिली। कल तक वे आदिवासी जलाशय में मछली के चोर कहलाते थे लेकिन वे मालिक बन गए। ये लोग तवा जलाशय में मछली चोरी रोकने के लिए निगरानी और चेकिंग करते थे। यानी तवा जलाशय और सतपुड़ा घाटी के प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण, विकास और प्रबंधन का काम आदिवासी बखूबी कर रहे थे। इस जलाशय में न केवल मछली का उत्पादन बढ़ा था बल्कि रोज़गार और मछुआरों की आमदनी भी बढ़ी थी।

सहकारिता के इस प्रयोग की खास बात यह थी कि इसमें मछली पकड़ने से लेकर बेचने तक संघ के महत्वपूर्ण निर्णय आदिवासी ही लेते थे जिससे उनमें आत्मविश्वास बढ़ रहा था और वे अपनी क्षमताओं का इस्तेमाल पूरे इलाके और अपने आदिवासी समाज की भलाई में कर रहे थे। संघ के केसला कार्यालय के ज़्यादातर कर्मचारी विस्थापित आदिवासी ही थे। कुल मिलाकर, सहकारिता का यह अनूठा प्रयोग विस्थापितों के पुनर्वास का सफल उदाहरण है, आदिवासियों के विकास का मॉडल भी है, प्राकृतिक संसाधनों - जल, जंगल, ज़मीन - के संरक्षण और प्रबंधन का अच्छा उदाहरण भी है। आज पूरे देश में सहकारिता जहां भ्रष्टाचार और घोटालों के कारण असफल है, वहीं विस्थापित आदिवासियों का यह प्रयोग सफलता की मिसाल है।

हाल ही में इस प्रयोग को खत्म कर दिया गया है। वैधानिक रूप से तो अब तवा जलाशय में मछली पकड़ने पर रोक है मगर चोरी से मछली पकड़ी और बेची जा रही है, वसूली भी की जा रही है। अब यहां मछली पकड़ने में किसी तरह के नियम-कायदों का पालन नहीं हो रहा है। कोई देखनेवाला नहीं है। तवा मत्स्य संघ के अध्यक्ष मोतीराम तेकाम का कहना है, “हमारे मछली पकड़ने से वन्य प्राणियों को किसी तरह की हानि नहीं पहुंचती थी।”



सांडिया

बांध की बलि चढ़ा नर्मदा का केवट समुदाय

मध्यप्रदेश में जबलपुर के पास नर्मदा पर बना बरगी बांध देश के बड़े बांधों में से एक है। यह 1990 के आसपास पूरा हुआ। वैसे तो बरगी बांध से उजड़ने वाले गांव डेढ़ सौ से ज़्यादा हैं लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से कई और गांवों को इसकी कीमत चुकानी पड़ी है। बांधों में प्रत्यक्ष डूबने वाले विस्थापितों की तो चर्चा होती है, लेकिन कई अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित समुदाय हैं, जिनकी पीड़ा गुमनामी में रह जाती है। उन्हें सरकारी तौर पर प्रभावित या विस्थापित भी नहीं माना जाता। बिखरे होने के कारण वे संगठित भी नहीं हो पाते हैं। नर्मदा के किनारे रहने वाले मछुआरे ऐसे ही लोग हैं जो सबसे ज्यादा



प्रभावित हुए हैं। मछुआरे बरौआ, कहार और केवट समुदाय से हैं। नर्मदा के दोनों किनारों पर इनकी काफी आबादी है। जबलपुर से लेकर गुजरात तक ये नर्मदा नदी में मछली पकड़ने का काम करते थे और उसके विशाल तट की रेत में डंगरबाड़ी (तरबूज़-खरबूज़ की खेती) लगाते थे। बरगी बांध बनने से उनके जीवकोपार्जन के सभी साधन प्रभावित हुए हैं। बरगी बांध से समय-असमय पानी छोड़े जाने के कारण वे आज न तो डंगरबाड़ी लगा पा रहे हैं और न ही अब नर्मदा में मछली ही बची है।

मध्यप्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में एक छोटे कस्बे सांडिया के मछुआरों की आजीविका पर इस बांध से खासा असर हुआ है। यहां की एक मछुआरा बस्ती के नारायण केवट बताते हैं, “बांध बनने के बाद से हमारी पूरी डंगरबाड़ी चौपट हो गई है क्योंकि 8-15 दिन में नर्मदा का पानी कम-ज़्यादा होता रहता है। यानी बांध से पानी छोड़ दिया जाता है। जब पानी कम हो जाता है तो हमारी फसल सूख जाती है और पानी ज़्यादा हो जाता है तो वह बह जाती है। इसके लिए पानी एक जैसा स्थाई होना चाहिए।”

मछुआरे बताते हैं कि पहले वे नर्मदा की रेत में तरबूज़, खरबूज़, ककड़ी, गिलकी, भटा, टमाटर आदि लगाते थे। नर्मदा मैया के तरबूज़, खरबूज़ बहुत मीठे और स्वादिष्ट होते थे। पिछले कई सालों से हमारी डंगरबाड़ी की खेती पर पानी फिर गया है। हमारा मुख्य धंधा वही था।

वे बताते हैं कि नर्मदा की रेत में डंगरबाड़ी के साथ एक छोटी घास-फूस की टपरिया (छोटा घर) बनाते थे। पूरा परिवार फसल आने तक वहीं रहता था। बच्चों की तरह पौधों की परवरिश करते थे। बच्चे और महिलाएं भी इस काम में मदद करते थे। तरबूज़, खरबूज़ और सब्जियां खूब होते थे जिसे वे घर में भी इस्तेमाल करते थे और बेचते भी थे। और वहीं रात में सजनई गाते थे। सजनई एक लोकगीत की शैली है जिसे बरौआ और केवट समुदाय के लोग गाते हैं।

इसके अलावा, ये मछुआरे नर्मदा में मछली पकड़ने का काम भी करते थे। नदी में बांध की वजह से पानी कम-ज़्यादा होने के कारण यह धंधा भी प्रभावित हो रहा है। अब नर्मदा में भी पहले की अपेक्षा कम पानी बचा है। इसकी ज़्यादातर सहायक नदियां या तो सूख चुकी हैं या बरसाती नालों में बदल गई हैं।

बांध से पानी समय-असमय क्यों छोड़ा जाता है, इसका एक कारण नहरों का पूरा नहीं

बनना है। बांध तो बन गया पर नहरों का काम अब भी पूरा नहीं हुआ है। इस कारण बांध में ज़्यादा पानी रहता है, जिसे समय-असमय छोड़ दिया जाता है। बांध बनाते समय नदी के नीचे के लोगों के परंपरागत अधिकारों पर क्या असर होगा, इस बारे में नहीं सोचा जाता।

यहां के अतरसिंह बताते हैं कि पहले नर्मदा में बहुत मछली मिलती थी, अब नहीं मिलती। उनका कहना है कि पानी स्थाई रहना चाहिए। कम-ज्यादा होने से मछली नहीं आती। कई बार इससे नदी-नालों में मछली ऊपर चढ़ जाती है जो कम पानी होने के कारण फिर नीचे नहीं आ पाती और वहीं मर जाती है।

वे बताते हैं कि वे 10-12 साल की उम्र से नदी में मछली पकड़ने का काम कर रहे हैं, इसी की गोद में बड़े हुए हैं। “पहले हमें यहां करची, रोहू, पाड़िन, कतला जैसी मछलियां मिलती थी। पर अब तो चाल, सीकड़ा, गोरई भी नहीं मिल रही है। इस कारण परेशानी आ रही है।”

इसके अलावा, यहां मछुआरे नदी में नाव चलाने का काम करते थे। यहां पुल बनने से यह रोजगार भी खत्म हो गया है। पहले नाव से ही अनाज लाने-ले जाने या लोगों को इस पार से उस पार किया जाता था। लेकिन अब पक्का पुल बन गया है, इससे इनका वह रोजगार भी खत्म हो गया है।

ये सभी परंपरागत रोजगार खत्म होने के बाद मछुआरे अब नए रोजगार की तलाश में

भटक रहे हैं। वे मज़दूरी करते हैं, खेती-किसानी के काम सीख रहे हैं, आसपास के छोटे शहरों में काम की तलाश में भटक रहे हैं। अब भी नर्मदा में थोड़ी-बहुत मछलियां मिलती हैं, उन्हें पकड़ने के लिए मछुआरे रात-रात भर जाल डालकर बैठे रहते हैं लेकिन इससे इनकी मजदूरी भी नहीं निकलती।



नतीजतन, सांडिया के पास ही सिवनी की फूलवती (12 वर्ष) और उसकी छोटी बहन रुकमणी (6 वर्ष) नदी में गोता लगाते पैसा ढूँढती हैं। फूलवती कहती है, “स्कूल में क्या करेंगे, मास्टर पढ़ाते तो हैं नहीं, बैठे रहते हैं। यहां नदी में रोज 20-30 रुपए मिल जाते हैं।” उल्लेखनीय है कि आस्थावश लोग नर्मदा में पैसे चढ़ाते हैं। वह कहती है, “आज मंगलवार था, इसलिए 30 रुपए मिल गए। अमावस्या को 50 रुपए तक मिल जाते हैं।” इन बच्चों की पानी में गोता लगाने की क्षमता गजब की है। वे पानी के अंदर 5-10 मिनट तक सांस रोके रख सकते हैं। यह भी योग व प्राणायाम की तरह है, जिसे बिना अभ्यास के शायद बड़े भी न कर सकें।

सांडिया का सुक्कू (35 वर्ष) कहता है कि वह कभी स्कूल नहीं गया। कभी मौका ही नहीं मिला। बहुत ही छोटी उम्र से नदी में मछली पकड़ने का काम कर रहा है। अब वह भी नहीं मिल रही। वह अपने तीनों बच्चों को पढ़ाना चाहता है लेकिन मजबूरी है। स्लेट-कॉपी के लिए पैसा नहीं है। अतिरिक्त खर्च की गुंजाइश नहीं है। महंगाई बहुत है, राशन के लिए ही पैसे पूरे नहीं होते। उनके सामने रोज़ी-रोटी का संकट खड़ा हो गया है। ऐसे में उनके बच्चों के बेहतर भविष्य की भी उम्मीद नहीं दिख रही है।

यहां यह याद दिलाना उचित होगा कि बरगी बांध में 162 गांव विस्थापित हुए थे। बांध में 1990 के आसपास पानी भरा गया था। इन गांवों का न तो कोई व्यवस्थित पुनर्वास हुआ और न ही मुआवज़ा मिला। न ज़मीन के बदले ज़मीन मिली और न ही कोई स्थाई रोज़गार की व्यवस्था हुई। वे संगठित हुए और संघर्ष किया। मगर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित लोगों को तो प्रभावित तक नहीं माना जाता और बिखरे होने की वजह से वे संगठित होकर संघर्ष भी नहीं कर पाते।

बड़े बांधों के प्रभाव लोगों की जिंदगियों पर कितनी दूर-दूर तक होते हैं, इसका यह एक उदाहरण है। जीवनदायिनी कहलाने वाली नर्मदा पर बड़े बांध बनाकर कई समुदायों का जीवन आधुनिक विकास की बलि चढ़ रहा है।

छींदापानी

विस्फोटों में उखड़ते ज़िंदगी के परखच्चे



होशंगाबाद ज़िले का एक गांव है छींदापानी। यह गांव प्रूफ रेंज से उजड़ा है। यहां रहने वाले कोरकू आदिवासियों का व्यवस्थित पुनर्वास नहीं हुआ और जो मुआवज़ा मिला वह बहुत ही कम था। रोज़गार के अभाव में ये उजड़े लोग गोला-गट्टू (बमों के खोल) बीनने के सुलभ रोज़गार में लग गए। इस काम में अब तक इस गांव के कई लोगों की जानें जा चुकी हैं जबकि कई लोग अपंग होकर अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर हैं।

छींदापानी में इतनी अधिक मौतें हुई हैं कि इसके बारे में यह कहा जाने लगा कि यह विधवाओं

का गांव है। यहां अधिकांश पुरुष जान गंवा चुके हैं, उनके बच्चे भी मर गए हैं। जो थोड़े बहुत बचे हैं वे या तो बहुत छोटे बच्चे हैं या बूढ़े हैं। इस जोखिम भरे और जानलेवा रोज़गार में सिर्फ इस गांव के ही नहीं, कई गांवों के लोग शामिल हैं। ताकू, राजामरिहार, सुइया, सहेली, चारटेकरा, कोहदा, सातपुरा आदि कई गांव के लोग गोला-गट्टू बीनने के धंधे में लगे हैं। इन बमों के खोल लोहा, एल्युमीनियम, तांबा, पीतल आदि धातुओं

के बने होते हैं, जिसे एकत्र कर बेच दिया जाता है।

यहां के सरपंच मायाराम ने बताया कि यहां गोला-गट्टू बीनने में 40-50 लोगों की मौत हो चुकी है। उन्होंने ऐसे 22 मृतकों की सूची बनवाई जिनकी मौत गोला-गट्टू से हुई है। अपंगों की फेहरिस्त भी लंबी है। छींदापानी करीब 100 घरों का गांव है।

झामसिंह (49 वर्ष) की एक टांग गोला-गट्टू से टूटकर अलग हो गई है। वे अब एक टांग के सहारे जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह कभी न भूलनेवाला हादसा उनके साथ बहुत ही छोटी उम्र (12-13 साल) में घट गया था। वे बताते हैं कि वे अपने गांव के कुछ लोगों के पास खड़े थे, और उन्हें गोला-गट्टू (बम) फोड़ते हुए देख रहे थे तभी अचानक बम फट गया और उसमें उनकी टांग चली गई। झामसिंह की तरह ऐसे कई लोग हैं, जो अपंग हो गए हैं। प्रूफ रेंज बनने के करीब चार दशक बाद भी यहां के विस्थापित आदिवासी दर-दर की ठोकरें खाते फिर रहे हैं। रोज़गार के अभाव में इनकी भूखे मरने की नौबत है।

यह कहानी है मध्यप्रदेश के होशंगाबाद ज़िले में स्थित ताकू प्रूफ रेंज की। इसमें तोपों, टैंकों और गोलों का परीक्षण होता है। यह प्रूफ रेंज 1972 के आसपास बना। यह 117 वर्ग किलोमीटर में फैला है। इससे 26 गांव उजड़े हैं। इसी क्षेत्र में तवा बांध से 44 गांवों को उजाड़ा गया है। अब यह पूरा इलाका एक तरह से उजाड़े और भगाए गए लोगों का इलाका बन गया है। इन्हें जीने के लिए ज़रूरी सुविधाएं जुटाना मुश्किल हो रहा है। इनका पुनर्वास न होने और रोज़गार के अभाव में ये गोला-गट्टू बीनने का काम करते हैं।

बताते हैं कि जब प्रूफ रेंज में फायरिंग की जाती है तब बमों के खोल बीनने के लिए इन आदिवासी लोगों की भीड़ लग जाती है। गोला कोई और न उठा ले इसलिए जैसे ही गोला गिरता है ये दौड़कर वहां अपना कुछ निशान लगा देते हैं। लकड़ी में रुमाल बांधकर उसे, अपनी जान जोखिम में डालकर, बम के पास गड़ा देते हैं। ऐसे में कई बार उसी समय दूसरा गोला छूटता है तो युवक आदिवासी वहीं ढेर हो जाते हैं। कई बार गोला नहीं फूट पाता, तब भी ये उसे उठाकर ले आते हैं। बाद में उसे फोड़ने के प्रयास में भी कई लोगों की जानें जा चुकी हैं।

इस क्षेत्र में कार्यरत किसान आदिवासी संगठन के एक मोटे अनुमान के मुताबिक हर

वर्ष गोला बीनने में करीब 15-20 मौतें हो जाती हैं। अब तक 500 से अधिक लोग इस धंधे की बलि चढ़ चुके हैं। हालांकि ऐसी घटनाओं की पूरी जानकारी पुलिस को भी नहीं मिल पाती - इससे लोगों को ही केस बनने का डर रहता है क्योंकि रेंज की सीमा में प्रवेश निषेध है। हालांकि अब स्थिति थोड़ी सुधरी है, अब इसका ठेका हो गया है। अब इन बमों के खोल को ठेकेदार ही बिनवाता और खरीदता है।

इसी प्रकार रेंज के उस पार बसे आदिवासी युवक-युवतियों की शादी आसानी से नहीं होती क्योंकि रेंज पार करके जाना ज़ोखिम भरा काम है। इन्हें रिश्तेदारी व अन्य जगह आने-जाने में भी दिक्कत होती है। हालांकि इस बीच सड़क बनने से कुछ सुविधा हुई पर दिक्कत तो अब भी है।

गांववासियों का कहना है कि पहले बच्चे और महिलाएं भी गोला-गट्टू बीनते थे। वे सुबह 10 बजे से पूर्व प्रूफ रेंज में फायरिंग शुरू होने से पहले गोला-गट्टू एकत्र करने जाते थे। अब ज़्यादा नहीं जाते। इसके अलावा, रेंज के सीमा क्षेत्र से गुज़रकर आनेवाले स्कूली छात्रों को कई बार परीक्षा से भी वंचित होना पड़ा है।

इन विस्थापितों की ज़िंदगी में आस तब जगी जब यहां समाजवादी विचारधारा से जुड़े कुछ युवकों ने लोगों के साथ किसान आदिवासी संगठन का गठन किया। इसके बाद विस्थापितों की लंबी लड़ाई चली। वर्ष 1987 में तो इन्होंने भौंरा से भोपाल तक की पदयात्रा की थी। तत्कालीन मुख्यमंत्री मोतीलाल वोरा ने इनकी समस्याएं तो सुनीं लेकिन उनका निराकरण आज तक नहीं हुआ है।

किसान आदिवासी संगठन के सचिव और जनपद उपाध्यक्ष फागराम का कहना है कि आज यहां स्थाई रोज़गार की कोई व्यवस्था नहीं है, खेतों में सिंचाई की सुविधा नहीं है। कहने को तो कई योजनाएं आईं और चली गईं लेकिन विस्थापितों की ज़िंदगी में कोई बदलाव नहीं आया। आज उन पर रोज़ी-रोटी का गंभीर संकट है। इसी इलाके में तवा के विस्थापितों को मछली का अधिकार दिया गया था। सहकारिता के माध्यम से स्थानीय संसाधनों का प्रबंधन, संवर्धन और मार्केटिंग का अच्छा काम भी हुआ लेकिन इस क्षेत्र को सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व में शामिल करने के बहाने यह अधिकार छीन लिया गया। ऐसी अभाव और संघर्ष की ज़िंदगी का बच्चों पर भी असर पड़ता है। पूरी पीढ़ी प्रभावित हो रही है। एक बार उजड़ी ज़िंदगी को जमने में काफी वक्त लगता है।

गाजनिया बेड़ा

पहले महुआ खाते थे, वह भी छिन गया

केसला विकासखंड का छोटा सा गांव है गाजनिया बेड़ा। यह मध्यप्रदेश में होशंगाबाद ज़िले के ताकू प्रूफरेंज से उजड़ा गांव है। इसे चीपा गांव से उजाड़ा गया, बाद में ये विस्थापित कोरकू आदिवासी काला आखर के पास गाजनिया बेड़ा में बस गए। लेकिन आज तक यहां के लोगों को जीने के लिए बुनियादी सुविधाएं मयस्सर नहीं हैं। यहां न तो बिजली है, न पानी। न ज़मीन है, न ही पढ़ाई के लिए ढंग का स्कूल। जीविकोपार्जन के लिए कोई स्थाई रोज़गार भी नहीं है।

सतपुड़ा की घाटी में यह प्रूफ रेंज 1972 के आसपास बना था। यहां बमों का परीक्षण



होता है। इससे 26 गांव उजड़े थे। इस विस्थापन से लोगों के घर और ज़मीन छिन गए। साथ ही पूरा परिवेश, जंगल, फलदार पेड़, सब कुछ पीछे छूट गए। अब यह सिर्फ यहाँ लोगों की स्मृतियों में है। गांव वाले इस पर गाहे-बगाहे चर्चा कर उन दिनों की यादें ताज़ा करते हैं।



यहाँ के कनकसिंह दादा बताते हैं, “हमारे पुराने गांव में महुआ,

अचार, सीताफल आदि के बहुत पेड़ थे, जिनके फल-फूल खाकर हम अपना पेट भरते थे।” वे बताते हैं कि उनके परिवार की करीब 30 एकड़ ज़मीन थी, जिसका मुआवज़ा सिर्फ 40 हजार रुपए मिला। इस जमीन की एवज में सिर्फ 2 एकड़ जमीन दी गई। इस प्रकार विस्थापितों को नाममात्र का मुआवज़ा दिया गया, जो नाकाफी था।

वे बताते हैं, “हमारे पुराने गांव के खेतों में मक्का, कोदो, कुटकी, चना और तिल्ली की फसल होती थी। इन मिश्रित फसलों से ही गुजर-बसर होती थी। इसके अलावा, बड़ी संख्या में ढोर रखते थे जिससे दूध होता था। मुर्गा-मुर्गी भी थे। मवेशी और मुर्गा-मुर्गी फिक्स्ड डिपॉज़िट की तरह होते थे, जिन्हें ज़रूरत पड़ने पर बेचकर नगद पैसे मिल जाते थे।”

जंगल में रहनेवाले आदिवासियों का जीवन कई अमौद्रिक चीज़ों पर निर्भर रहता है जिनकी वहाँ बहुतायत रहती है। मगर जंगल खत्म होने या कम हो जाने के कारण उन्हें भारी परेशानी का सामना करना पड़ता है। वे पहले तिल्ली और महुआ के लड्डू बनाकर खाते थे। कचरिया की चटनी के साथ कोदो की रोटी खाते थे। मक्का का पेज़ा बनाते थे। पेज़ा में पानी ज्यादा होता है, मक्का कम। यह सूप जैसा होता है। इसके अलावा, बल्लर की दाल और समा का भात खाते थे। पुआर की भाजी बहुतायत में मिलती थी। यह सब बिना पैसे खर्च किए आसपास के जंगल और खेतों से मिल जाता था।

अगर कहीं रिश्तेदारी में जाना होता था तो पैदल ही चले जाते थे। घूमना भी हो जाता था और पैसे भी नहीं लगते थे। लेकिन उजड़ने के बाद महुआ नहीं मिल रहा है। गुल्ली नहीं मिल रही है। महुआ की कमी है। यहां से दूसरे गांवों के लोग भी आकर ले जाते हैं। आपस में लड़ाई-झगड़ा होता है। पानी और चारे की कमी के कारण ढोर नहीं रख पा रहे हैं।

वैसे भी आदिवासी जंगल, पेड़, पत्थर को देवता समान मानते हैं। उनका जीवन प्रकृति के बहुत करीब है। वे जंगल से उतना ही लेते हैं, जितनी उनको ज़रूरत है। वे अपनी ज़िंदगी में प्राकृतिक संसाधनों पर ही निर्भर रहते हैं। कनकसिंह दादा यही बता रहे थे। वे कहते हैं कि पहले महुआ से ही गुज़र हो जाती थी पर वे ही छिन गए।

गांववासी बताते हैं कि “यहां हमें शुरुआत में ज़मीन दी गई थी। उसमें हमने 5 साल खेती भी की पर फिर सरकार ने नर्सरी लगाने के नाम पर वापस ले ली।” कुछ ग्रामीणों को ज़मीन का हकदार होने का प्रमाण पत्र भी दिया गया था लेकिन ज़मीन आज तक नहीं दी गई। गांववाले कहते हैं कि अगर ज़मीन मिल जाती तो जीने का सहारा मिल जाता।

यहां बिजली नहीं है। गांव में बिजली के लिए 5-6 साल पहले सर्वे हुआ था। तब यह कहा गया था कि बिजली जल्द ही लगने वाली है। इस पर भरोसा कर गांव के बिसनलाल ने अपना डीज़ल इंजन बेच दिया। उसने सोचा जब बिजली लग जाएगी तो इंजन की क्या ज़रूरत? लेकिन बिजली आज तक नहीं लगी है। गांववासी कहते हैं, “बिजली की छोड़ो, हमें चिमनी जलाने के लिए राशन की दुकानों से मिट्टी तेल कभी मिलता है, कभी नहीं।” वे पूछते हैं, “हमारे बच्चे कैसे पढ़ पाएंगे?”

यहां के लोगों की समस्याएं बढ़ती जा रही हैं। इस साल सूखे में संकट और बढ़ गया है। पिछले 5-6 सालों से बारिश कम हो रही है। इसलिए पानी की बहुत समस्या है। खेती भी ढंग से नहीं हो पा रही है। मवेशियों को पीने के लिए पानी नहीं मिल रहा है।

इस इलाके में महुआ, आंवला, अचार, आम, सीताफल, बेर, मकोई जैसे फलदार वृक्ष लगातार कम होते जा रहे हैं, जो बच्चों के पोषण का अनिवार्य हिस्सा हुआ करते थे। जंगल कम हो रहा है और उस पर आबादी का दबाव बढ़ रहा है। इसका असर यह हो रहा है कि पेड़ों के फल पकने के पहले ही तोड़ लिए जाते हैं। कुछ तो इस डर से

कि वरना दूसरे गांव के लोग उन्हें तोड़कर ले जाएंगे।

यहां के बिसनलाल ने पिछले कुछ समय से अपने खेत में फलदार वृक्ष लगाने का काम शुरू किया है। इस साल बारिश में और भी पेड़ लगाएंगे। किसान आदिवासी संगठन फलदार वृक्षों को लगाने की मुहिम चलाने की सोच रहा है। इस सम्बंध में केसला में मई माह की बैठक में चर्चा भी हुई।

यहां 5वीं तक स्कूल है। आगे की पढ़ाई के लिए जामुनडोल और सुखतवा जाना पड़ता था, अब 3 किलोमीटर दूर काला आखर में जाते हैं। यह गांव काला आखर पंचायत के अंतर्गत आता है। गांववासियों का कहना है कि स्कूल दूर होने के कारण बच्चे पढ़ नहीं पाते। बच्चे स्कूल जाने का कहकर जाते हैं और रास्ते में ही खेलते रहते हैं। छोटे बच्चों के लिए आंगनवाड़ी भी नहीं है, दूसरे गांव में है। हालांकि अशिक्षा का एक कारण जीवन संघर्ष भी है, जिसके कारण सभी मुद्दे पीछे हो जाते हैं।

गांववासी बताते हैं कि यहां चुनाव के समय नेता आते हैं, वादे करते हैं और भूल जाते हैं। यही हाल पार्टियों का है। गांव की समस्याओं को कोई हल नहीं करता। भूख, अभाव और गरीबी उनके लिए कोई मुद्दा नहीं है।

किसान आदिवासी संगठन के कार्यकर्ता व जनपद उपाध्यक्ष फागराम का कहना है कि प्रूफ रेंज के विस्थापितों का व्यवस्थित पुनर्वास नहीं हुआ है। उन्हें ज़मीन नहीं दी गई है। ज़मीन की हकदारी का प्रमाण पत्र भर दिया गया, जो सड़-गल चुका है पर ज़मीन आज तक नहीं मिली। और न ही स्थाई रोजगार की कोई व्यवस्था की गई है। इसलिए दो-तीन पीढ़ियों बाद भी लोग बहुत कठिन हालात में जिंदगी गुज़ार रहे हैं। लिहाज़ा उनके बच्चों का भविष्य भी अंधकारमय है।

इस गांव के लोगों ने तो बमों के खोल बीनने का ज़ोखिम भरा काम न करने का फैसला किया है, जिसकी बदौलत इससे होने वाली जनहानि से यह गांव बच गया है। लेकिन प्रूफ रेंज से विस्थापित अन्य गांवों में कई लोग यह काम करते हैं। रोज़ी-रोटी का संकट बढ़ता जा रहा है। मज़दूरी के लिए दर-दर भटकना पड़ता है। अपने साथ सामान की पोटली लिए खेती के कामों के लिए दूर-दूर तक जाते हैं। जब जीवन में स्थायित्व न हो तो बच्चों पर भी इसका गहरा असर पड़ता है।

काकड़ी

जंगल का एक स्वावलम्बी गांव बचेगा क्या?

“हम सिर्फ बाजार से नमक और कपड़ा खरीदते हैं, बाकी ज़रूरत की चीज़ें अपने खेत में ही पैदा करते हैं। यही हम अच्छे हैं। जंगल से बाहर हमें ऐसी हरी-भरी खेती, पर्याप्त पानी, जंगल, पहाड़ और आज़ादी कहाँ मिलेगी?” यह कहना है सोहागपुर तहसील के काकड़ी गांव के जनपद सदस्य जयसिंह का। ऐसे स्वावलम्बी गांव और भी हैं।

काकड़ी सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व का एक गांव है जिस पर इस क्षेत्र के अन्य गांवों की तरह विस्थापन की तलवार लटक रही है। सतपुड़ा की गोद में बसे इस गांव में सब कोरकू आदिवासी हैं, बस एकाध परिवार गोली समुदाय का है। बोरी अभयारण्य के गांवों में गोंड-कोरकू आदिवासियों के अलावा गोली समुदाय के लोग भी रहते हैं। गोली



समुदाय पशुपालन का काम करते हैं। वे अपने घरों में 50-50 ढोर रखते हैं। कोरकू आदिवासियों के झोपड़े-घर दूर-दूर खेत में ही बने हुए हैं। घर के आगे-पीछे बाड़ा होता है जिसमें वे सब्जियाँ, मक्का वगैरह लगाते हैं।

होशंगाबाद ज़िले में वन्य प्राणियों के लिए तीन सुरक्षित क्षेत्र बनाए गए हैं - सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान, बोरी अभयारण्य और पचमढ़ी अभयारण्य। तीनों को मिलाकर सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व बनाया गया है। इसमें सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान के 8 गांव, बोरी अभयारण्य के 17 गांव और पचमढ़ी अभयारण्य के 50 गांव शामिल हैं। कुल मिलाकर, आदिवासियों के लगभग 75 गांव हैं और इतने ही गांव बाहर सीमा से लगे हुए हैं। इनमें से अंदर के लगभग 50 गांवों को हटाने की योजना है। ये सभी गांव पूरी तरह जंगल, ज़मीन और पानी (तवा जलाशय) पर आश्रित हैं।

काकड़ी अभयारण्य के अंदर है। इसके आगे धाँई गांव था जो हटाया जा चुका है। एक अन्य गांव बोरी को हटाया जा रहा है। इसी गांव के नाम पर इस अभयारण्य का नाम बोरी अभयारण्य पड़ा था।

जयसिंह का कहना है कि वे अपने खेत में ज़रूरत की सभी चीज़ें पैदा कर लेते हैं। उन्हें बाजार से ज़्यादा चीज़ें खरीदने की ज़रूरत नहीं पड़ती। कोदो, कुटकी, धान, मक्का, उड़द आदि अन्न पकाते हैं। इसके अलावा, यहां पर्याप्त पानी है। काकड़ी नदी पर स्टॉप डेम बना है जिससे खेतों में सिंचाई के लिए पानी मिलता है। यहां सभी तरह की सब्जियाँ उगाते हैं। महुआ भूनकर लड्डू बनाते हैं जिसे गुड़ की तरह इस्तेमाल कर लेते हैं। तिल्ली के लड्डू भी बनाते हैं। तेल भी सरसों का कर लेते हैं जिसे दूसरे तेल से बदल लेते हैं। इसके अलावा, जंगल से कंद-मूल (ननमाटी, जंगली रतालू, बेचांदी, कडुमाटी), भमोड़ी (मशरूम) आदि भी खाने में इस्तेमाल किए जाते हैं। जिन कंदों में कड़वापन होता है उन्हें विशेष पद्धति से दूर कर दिया जाता है। बेल को उबालकर खाते हैं। अगर एक-दो दिन भोजन न मिले तो जंगल से ही गुज़ारा चल जाता है। ये सब उनके भूख के दिनों के साथी हैं।

इस इलाके में गजरा या बिर्रा खेती की पद्धति प्रचलित है जिसमें दो-तीन फसलों को मिलाकर एक साथ बोया जाता है। जैसे तुअर के साथ कोदो बो देते हैं। यह पद्धति सूखे और जंगल क्षेत्र में ही पाई जाती है। यह उस स्थिति में खास मददगार साबित होती है जब एक फसल मार खा जाती है। ऐसा होने पर दूसरी से उसकी पूर्ति हो जाती है।

जबकि एक ही फसल बोने और उसमें रोग लगने से किसान के हाथ कुछ नहीं लगता। इसके अलावा, खेतों की मिट्टी की उर्वरता भी कम नहीं होती क्योंकि फलियोंवाली फसलों से नाइट्रोजन की कमी पूरी हो जाती है। कृषि वैज्ञानिकों का मानना है कि इससे फसल खराब होने या रोग लगने का खतरा भी कम हो जाता है।

अक्सर विस्थापन के पहले सर्वे और रपटों में मौद्रिक चीजों का आकलन किया जाता है लेकिन अमौद्रिक चीजों का नहीं जबकि विशेषकर जंगल व अभयारण्य क्षेत्र में रहने वाले आदिवासियों के जीवन का प्रमुख आधार जंगल है जिसमें काफी चीजें अमौद्रिक हैं, जो जंगल के कारण ही उन्हें निशुल्क व प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। और ये चीजें पुनर्वास होने के बाद जंगल के बाहर उपलब्ध नहीं होती। वे जंगल में अपने पशु चराते हैं, जंगल से लकड़ी-बांस व अपनी ज़रूरत की अन्य चीजें लाते हैं। महुआ, गुल्ली, शहद, तेंदू, तेंदू पत्ता, अचार, मैनर, आवला, पत्तल-दोने और भाभर घास लाते हैं। बच्चों के लिए पोषण की कई चीजें जंगल में निशुल्क मिलती है। जैसे बेर, जामुन, अमरुद, मकोई, सीताफल, आम, शहद और कई तरह के फल-फूल सहज ही उपलब्ध होते हैं जिन्हें वे इधर-उधर ढूँढ़कर खाते रहते हैं। जंगल से बाहर आने पर ये चीजें नहीं मिलेंगी। इसका ताज़ा उदाहरण सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व से हाल ही में विस्थापित नई धाँई के लोगों का है। नई धाँई में पानी और चारे की कमी के कारण बड़ी संख्या में मवेशियों की मौतें हो गईं। महिलाओं को निस्तार के लिए भी पानी की कमी है।

काकड़ी गांव में वन विभाग ने जंगली जानवर और मनुष्य के टकराव को रोकने के लिए गांव के खेतों की फेंसिंग की है। ग्रामीणों के अनुसार यह फेंसिंग वर्ष 1999 में लगाई गई है। इससे जंगली जानवर खेतों की फसल को नुकसान नहीं पहुंचा पाते और जंगली जानवरों से सुरक्षा होती है। दूसरे, खेतों की बागड़ करने के लिए जंगल से कांटा-गेड़ी भी नहीं काटनी पड़ती। जंगल भी नहीं कटता। वैसे अभी तक यह फेंसिंग काकड़ी, चूरना और साकोट तक सीमित है। हालांकि गांव वाले इसके कई फायदे गिना रहे हैं लेकिन इस मॉडल को अब तक दूसरे गांवों में लागू नहीं किया गया है।

यहां जंगली जानवर और मनुष्य के सहअस्तित्व की एक और मिसाल देखी जा सकती है - यहां के जंगलों में जंगली जानवर और घरेलू पशु साथ-साथ चरते हैं। हिरन, जंगली बोदा (भैंसा), चीतल, सांभर और गाय-बैल साथ-साथ चरते देखे जा सकते हैं। ऐसा दृश्य सुखद आश्चर्य का होता है। हालांकि वन विभाग इससे जंगली जानवरों में

संक्रामक बीमारी की आशंका जताता है।

यहां महिलाओं द्वारा चलाए जा रहे स्व-सहायता समूह का काम भी महत्वपूर्ण है। इसके अंतर्गत वे वनोपज संग्रह करके और बेचकर हर सप्ताह 10-10 रुपए जमा करती हैं और जिस किसी को ज़रूरत होती है, उसकी मदद करती हैं। उनका स्व-सहायता समूह 3 साल से चल रहा है।

जयसिंह का कहना है कि किसी गांव को हटाने के लिए लंबे समय से इसकी पृष्ठभूमि तैयार की जाती है। पहले यहां वन विभाग की तरफ से काम मिलता था, वह बंद हो गया है। अब उनके गांव में विकास कार्य नहीं होते। उन्होंने बताया कि गांव में लगभग 10 साल से सभी निर्माण कार्यों पर रोक है। चाहे सड़क निर्माण हो या कोई और, सब पर रोक है। जंगल में भी निस्तार पर रोक लगाई जा रही है। इस सबके बिना हमारा काम कैसे चलेगा?

इस सम्बंध में क्षेत्र में कार्यरत किसान आदिवासी संगठन के सचिव फागराम का कहना है कि निर्माण कार्य पर रोक के साथ-साथ सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व के इन सारे गांवों में पिछले कई वर्षों से गांववासियों पर कई तरह के प्रतिबंध लगाए जा रहे हैं। यहां के लोग खेती के साथ मवेशी चराने, गुल्ली, अचार, अन्य वनोपज एकत्र करने और बेचने का काम करते हैं। इसके अलावा, पत्तल-दोना और भाभर घास, शहद बेचने के काम में भी संलग्न हैं। लेकिन इन सब पर रोक लगाई जा रही है। उन्हें एक बाड़े में कैद किया जा रहा है। जिससे उनके पास विस्थापन के अलावा कोई चारा न बचे।

कुल मिलाकर, यहां सादगीपूर्ण और तामझाम रहित सरल और सहज जीवन देखा जा सकता है। बहुत ही कम संसाधनों में सहज और स्वच्छंद जीवन, जिसे अपनाने की बात करना भर मज़ाक बन जाती है। ऐसे स्वावलम्बी गांवों के ऐसे महत्वपूर्ण कामों को नज़रअंदाज़ किया जा रहा है। कहा जा रहा है कि वन्य प्राणियों के स्वच्छंद विचरण और आवास में मनुष्य की मौजूदगी बाधक है। लिहाज़ा पूरे क्षेत्र को मनुष्य रहित बनाने की ज़रूरत बताई जा रही है। मगर यह न तो वन्य प्राणियों के हित में है, न वनों के क्योंकि जहां आदिवासी है वहीं जंगल है और जहां आदिवासी नहीं है, वहां जंगल साफ हो गया है। इसलिए हमें वन्य प्राणी, वन और आदिवासी तीनों को बचाने पर ज़ोर देना चाहिए।



विस्थापन के डर से सहमी हैं जंगल की बेटियां

काकड़ी गांव की सुमन 12वीं की पढ़ाई के लिए केसला आई है। यहां वह एक गर्ल्स हॉस्टल में रहकर पढ़ाई कर रही है। उसके गांव पर सतपुड़ा टाइगर रिजर्व के कारण विस्थापन की तलवार लटक रही है। इस कारण सुमन अपनी पढ़ाई पूरी लगन से नहीं कर पा रही है। उसका आधा मन अपने गांव में लगा रहता है। उसके जैसी कई और लड़कियां हैं। उनका यह डर अकारण भी नहीं है। उनके पड़ोसी गांव धाई और बोरी को हटाया जा चुका है। इसी प्रकार बोरी अभयारण्य के अंदर के कई गांव हैं, जहां बच्चों का भविष्य अधर में लटका हुआ है। सुपलई गांव की 11वीं में पढ़ने वाली कविता का भी भविष्य तय नहीं है।

कहने को तो हमारे संविधान में बच्चों को कई अधिकार दिए गए हैं। संयुक्त राष्ट्र का समझौता है। उनके हित में कई और कानून हैं जिनमें बच्चों के सर्वोच्च हित सुनिश्चित करने के प्रावधान हैं। लेकिन विस्थापन जैसे बड़े निर्णयों के बारे में उनसे कोई बातचीत नहीं की जाती। ऐसे बड़े निर्णयों से बच्चों की ज़िंदगी बदल जाती है, उनका बचपन छिन जाता है। पुनर्वास आदि की जो भी योजनाएं बनती हैं, उनमें बच्चों का ध्यान नहीं रखा जाता। उनकी इच्छाओं और रुचियों को कोई तरजीह नहीं दी जाती। सुमन से यह पूछने पर कि क्या वह अपने पुराने गांव से हटकर नई जगह जाना चाहती है, उसका जवाब था, “बिल्कुल नहीं। हम वहीं उम्दा हैं, वहां किसी प्रकार की दिक्कत नहीं है।

वहां का हरा-भरा जंगल और स्वच्छंद ठंडा वातावरण हमें कहां मिलेगा?”

वह कहती है, “हमें अपने गांव में बेरोकटोक घूमना-फिरना अच्छा लगता है। वहां की हरियाली भाती है। वहां अपनी सहेलियों के साथ जंगल जाना अच्छा लगता है। वहां आज़ादी है, अपनी ज़िंदगी में किसी का दखल नहीं है। वहां पानी की कोई कमी नहीं है। अब हमें पता नहीं, नई जगह पर यह सब मिलेगा या नहीं।” सुमन यूं ही यह सब बातें नहीं कहती है, उसने अपने पड़ोसी गांव जो हट चुके हैं उनके बारे में इधर-उधर से काफी सुन रखा है। इसी वर्ष 2009 में विस्थापित हुए बोरी की 10वीं की छात्र श्रीदेवी का कहना है कि उसे नई जगह पर बिल्कुल अच्छा नहीं लगता है। “यहां नदी-नाले, जंगल, पहाड़ नहीं है, और वह आज़ादी नहीं है, जैसी पुराने गांव में थी। यहां नए-नए लोगों से सामना करना पड़ता है। हमें असुरक्षा महसूस होती है।” सुमन को पता है कि धाई और बोरी की महिलाएं अब नई जगह पर रोज़गार के अभाव में जलाऊ लकड़ी का गट्ठा सिर पर पांच-सात किलोमीटर दूर बेचने जाती हैं।

सुमन के पिता जयसिंह जनपद सदस्य भी हैं। उनका कहना है कि उनका गांव खुशहाल है। वहां अपनी भोजन की ज़रूरत की चीज़ें खेतों में ही उगाते हैं, सिर्फ नमक और कपड़ा छोड़कर। वे अपने खेत में कोदो, कुटकी, धान, मक्का, तुअर, उड़द आदि उगाते हैं। अब तो वे काकड़ी नदी से पानी लेकर गेहूं भी बोते हैं। इसी प्रकार सब्जियों में आलू, गोभी, प्याज़, लहसुन, मिर्ची, बैंगन, हल्दी वगैरह लगाते हैं। सरसों के तेल के बदले मूंगफली का तेल ले लेते हैं। जंगल से मिलने वाली कई चीज़ों से भी भोजन की ज़रूरत पूरी हो जाती है।

जंगल में रहने वाले आदिवासियों में भी पढ़ाई को लेकर जागरूकता बढ़ी है। इन गांवों में आपको अक्सर साइकिल पर सवार होकर स्कूल जाती लड़कियों की टोलियां दिख जाएंगी। साइकिल उनकी आज़ादी की प्रतीक भी बन गई है। लेकिन इधर सरकारी स्कूलों की हालत दिनोदिन बिगड़ती जा रही है, शिक्षा का स्तर लगातार गिर रहा है। एक ज़माना था कि पढ़ाई में लोगों की दिलचस्पी कम थी, आज स्थिति बदल चुकी है। केसला के जनपद उपाध्यक्ष फागराम कहते हैं, “अब आदिवासी लड़के-लड़कियां पढ़ना चाहते हैं लेकिन स्कूलों में पढ़ाई नहीं होती।”

जंगल के अंदर से विस्थापित होने वाले लोगों की स्वाभाविक अपेक्षा रहती है कि नई

जगह जाकर उनके बच्चों का भविष्य बेहतर होगा। लेकिन देखने में यह आया है कि पुनर्वास के बाद उनके सामने रोज़ी-रोटी की समस्या विकट हो जाती है। विस्थापन से उनके जीवन में भारी उथल-पुथल होती है और फिर से जमने में उन्हें काफी वक्त लगता है। सतपुड़ा अंचल में ऐसे कई गांव के लोग हैं जो आज बरसों बाद भी जीवन की बुनियादी सुविधाएं नहीं जुटा पाए हैं।

विस्थापन एक उलझी हुई प्रक्रिया है। इसका समाधान सिर्फ दूसरी जगह घर बनाने, नगद पैसा देने और कुछ ज़मीन का टुकड़ा देने मात्र से नहीं हो जाता। जहां जाएंगे वहां पहले से लोग बसे होंगे, वहां के जंगल और ज़मीन से उनकी ज़रूरतें पूरी होती होंगी। नए लोग आने से प्राकृतिक संसाधनों पर जन दबाव बढ़ेगा। इसके अलावा, जैसे आज काकड़ी में खेती के लिए पर्याप्त पानी है और लोग अपनी भोजन की ज़रूरतें खुद पूरी कर लेते हैं। क्या उन्हें नई जगह पर पानी मिलेगा? क्या उन्हें खेती लायक ज़मीन मिल पाएगी? यह सवाल तो अपनी जगह है ही कि क्या वहां बच्चों की दृष्टि से अनुकूल वातावरण मिलेगा? उनके पोषण और स्वास्थ्य की दृष्टि से वैसी ही चीज़ें मिलेंगी, जो जंगल से प्रचुर और निःशुल्क मिल जाती हैं?

सुमन जैसी लड़कियों को यह समझ नहीं आ रहा है कि उनका भविष्य क्या है? उन्हें आगे कहां जाना है? नई जगह कैसी होगी? कैसा स्कूल होगा? कैसा आस-पड़ोस होगा? ऐसे अनगिनत सवाल उनके जेहन में उठ रहे हैं, जिनका जवाब कहीं से नहीं मिल पा रहा है। वे विस्थापन के डर से सहमी हुई हैं। क्या उनके सवालों का, आशंकाओं का कोई जवाब है? क्या उनका स्वावलंबी गांव बच नहीं सकता?

राईखेड़ा-आंजनढाना

न बिजली, न डीज़ल, फिर भी हो रही है सिंचाई

आम तौर पर बिजली, डीज़ल इंजिन या पशुओं की ऊर्जा के बगैर खेतों की सिंचाई करना मुश्किल है लेकिन सतपुड़ा के घने जंगलों में स्थित दो गांव के लोगों ने यह कर दिखाया है। अपनी कड़ी मेहनत, कौशल और सूझबूझ से वे पहाड़-जंगल के नदी-नालों से अपने खेतों तक पानी लाने में कामयाब हुए और अनाज पैदा करने लगे। जंगल पर आधारित जीवन से खेती की ओर मुड़े आदिवासी भरपेट भोजन करने लगे। लेकिन उनकी मुसीबतों का दौर थमा नहीं है। सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व के कोर एरिया की अधिसूचना जारी हो गई है। विस्थापन की तलवार इन दोनों गांवों समेत 75 गांवों पर



लटकी है जिससे गांववालों में अपने भविष्य को लेकर असमंजस और अनिश्चय बना हुआ है।

होशंगाबाद ज़िले के पिपरिया विकासखंड में सतपुड़ा के घने जंगलों के बीच बसे वनग्राम राईखेड़ा में प्यासे खेतों को पानी पिलाने की पहल करीब 20 वर्ष पहले शुरू हुई थी, जब



गांव के 16 लोगों ने गांजाकुंवर नामक नदी से पानी लाने का बीड़ा उठाया। यह काम आसान नहीं था। खेतों से नदी की दूरी लगभग 5 किलोमीटर थी, जिसके बीच में नाली निर्माण का श्रमसाध्य कार्य करना आवश्यक था। फिर इन संकल्पवान लोगों की माली हालत भी अच्छी नहीं थी। वे खुद मज़दूरी कर गुज़ारा करते थे। इस सामुदायिक स्वैच्छिक काम में ज़्यादा समय लगने से उनके सामने रोज़ी-रोटी का संकट पैदा हो रहा था क्योंकि इससे उन्हें आर्थिक मदद तो नहीं ही मिलती थी, उल्टे अपने संसाधन इसमें लगाना पड़ रहा था। इसके लिए कुछ कर्ज भी लिया गया। शुरुआत में गांव के लोगों ने इस सार्थक पहल का मजाक उड़ाया। कुछ ने कहा कि *यह ऊंट के पीछे नसेनी (सीढ़ी) लगाने का काम है*, जो असंभव है। यानी पहाड़ से खेतों तक पानी लाना टेढ़ी खीर है। फिर भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी और काम जारी रखा।

इस जनोपयोगी पहल से सक्रिय रूप से जुड़े लालजी कहते हैं, “हमने इस काम की प्रेरणा गांव के ही एक बुजुर्ग से ली थी जो एक अन्य नदी - कुंभाझिरी - से अपने खेत तक पानी लाए थे। यह बात करीब 40-45 साल पुरानी है। फिर हम 16 लोगों ने इस काम को करने की ठानी जिसे हमने एक साल में पूरा कर लिया। जिन लोगों को शुरू में हम पर इस काम को करने का विश्वास नहीं हो रहा था, बाद में वे भी हमारे साथ हो गए।”

इस इलाके की दो भौगोलिक विशिष्टताओं ने इसमें मदद की। एक तो पहाड़ी ढलान होने के कारण गांजाकुंवर नदी में थोड़ा ऊपर जाने पर ऐसी जगह मिल गई, जो गांव

के खेतों से ऊंची थी। वहां पत्थर का छोटा-सा बांध बनाने पर पानी को नालियों में मोड़कर गुरुत्व बल से ही खेतों तक पहुंचाया जा सकता था। दूसरा, इस नदी में साल में आठ-नौ महीने पानी रहता था। जंगलों के बीच होने के कारण पानी की धारा चलती रहती थी।

जंगल और पहाड़ के बीच स्थित गांजाकुंवर नदी से पानी लाने के लिए खेतों तक नाली बनाने का बड़ा और कठिन काम शुरू किया गया। ऊंची-नीची पथरीली जमीन में नाली निर्माण होने लगा। कहीं पर कई फुट गहरी खुदाई की गई तो कहीं पर बड़ी-बड़ी चट्टानों और पत्थरों को फोड़ा गया। कहीं पर पेड़ों के खोल से छोटा पुल बनाया गया तो कहीं नाली पर भूसे और मिट्टी का लेप चढ़ाया गया। पत्थरों की चुनाई की गई, जिससे पानी का रिसाव न हो। और इस प्रकार, अंततः ग्रामवासियों को 5 किलोमीटर दूर से अपने खेतों तक पानी लाने में सफलता मिली। इस काम में महिलाओं ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया।



पहाड़ से उतरे सरपट पानी से सूखे खेत तर हो गए। गेहूं और चने की हरी-भरी फसलें लहलहा उठीं। भुखमरी और कंगाली के दौर से गुज़र रहे कोरकू आदिवासियों के भूखे पेट की आग शांत हो गई। लोगों के हाथ में पैसा आ गया। वे धन-धान्य से पूर्ण हो गए। यहां सभी ग्रामवासियों को निशुल्क पानी उपलब्ध है। पानी के वितरण में प्रायः किसी प्रकार के झगड़े नहीं होते हैं। अगर कोई छोटा-मोटा विवाद होता भी है तो उसे शांतिपूर्ण ढंग से सुलझा लिया जाता है। इस सम्बंध में लालजी का कहना है कि यहां सबके खेतों को पानी मिलेगा, यह तय है। यह हो सकता है कि किसी को पहले मिले और किसी को बाद में, पर मिलेगा सबको। फिर विवाद बेमतलब है। इसके अलावा, नाली मरम्मत का कार्य भी मिल-जुलकर किया जाता है। आज गांव में दो नालियां गांजाकुंवर नदी से और तीन नालियां कुंभाझिरी नदी से आती हैं। कुल मिलाकर, पूरे गांव के खेतों में सिंचाई की व्यवस्था हो गई है।

राईखेड़ा की तरह वनग्राम आंजनढाना में भी इसी तरह की सामूहिक सिंचाई की व्यवस्था है। बल्कि आंजनढाना में यह व्यवस्था राईखेड़ा से पहले की है। राईखेड़ा और आंजनढाना के बीच में भी कुछ मील का फासला है। गांववासियों का कहना है कि यहां के पल्टू दादा ने बहुत समय पहले इसकी शुरुआत की थी। वे ढोर चराने का काम करते थे। और जब वे सतधारा नाले में ढोरों को पानी पिलाने ले जाते थे तब वे वहीं पड़े-पड़े घंटों सोचा करते थे कि काश! मेरे खेत में इस नाले का पानी पहुंच जाता, तो मेरे परिवार के दिन फिर जाते।

इसके लिए उन्होंने सतत् प्रयास किए। शुरुआत में नदी पर दो बांध बांधने की कोशिश की पर वे कामयाब नहीं हुए। वे अपने काम में जुटे रहे और अंततः उन्होंने अपने बाड़े में पानी लाकर ही दम लिया। शुरुआत में उन्होंने सब्जियां लगाईं - प्याज़, भटा, टमाटर, आलू, मूली वगैरह। फिर गेहूं बोने लगे। पल्टू दादा के बेटे बदन सिंह ने बताया, “आज हम उनकी वजह से भूखे नहीं हैं। गांव भी समृद्ध है। पहले हम सिर्फ बारिश में कोदो, मक्का बोते थे। अब गेहूं-चना की फसल ले रहे हैं। गांव के लोगों को भी पानी मिल रहा है।”

इस बहुमूल्य व सार्थक पहल में राईखेड़ा, आंजनढाना के बाद कोसमढोडा, तेंदूखेड़ा और नयाखेड़ा जैसे कुछेक गांव के नाम और जुड़ गए हैं। इस तरह प्यासे खेतों में पानी

देकर अन्न उपजाने की यह पहल क्षेत्र में फैलती जा रही है। हालांकि आंजनढाना में पक्की नाली का निर्माण वन विभाग के मार्फत करवाया गया है लेकिन राईखेड़ा में यह काम अब तक नहीं हो पाया है। गांववालों का कहना है, “इसके लिए स्वीकृति मिल चुकी है फिर भी इसे लटकाया जा रहा है।”

कुल मिलाकर, इस पूरी पहल से कुछ बातें साफ तौर पर दिखाई देती हैं। एक तो यह पूरा काम प्रकृति और पर्यावरण से सामंजस्य बनाकर किया गया है क्योंकि आदिवासियों का प्रकृति से गहरा रिश्ता है। वे जंगल और वन्य जीवों के सबसे करीब रहते आए हैं। उन्हें इसकी जानकारी है। और इस पूरे काम में न तो परिवेश को नुकसान पहुंचा, न जंगल को और न ही किसी वन्य जीव को। इसमें सिंचाई के लिए पानी लाने में किसी बिजली की ज़रूरत भी नहीं पड़ी। लिहाजा बिजली के तार भी नहीं खींचे गए, और न ही डीज़ल इंजिन की आवश्यकता पड़ी। कोई ध्वनि प्रदूषण भी नहीं हुआ। इस प्रकार प्रकृति, वन्य जीव और जंगल का संरक्षण करते हुए कृषि के लिए पानी की व्यवस्था



करना संभव हुआ।

इससे यह भी ज़ाहिर होता है कि घने जंगलों में रहने वाले ग्रामवासियों के विकास और पर्यावरण संरक्षण में कोई टकराव होना ज़रूरी नहीं है। वन संरक्षण और वन्य प्राणी संरक्षण के लिए उन्हें हटाना ज़रूरी नहीं है। ऐसे तरीके खोजे जा सकते हैं, जिनसे दोनों उद्देश्य पूरे हो सकें। लेकिन विडंबना यह है कि इसके बावजूद सतपुड़ा राष्ट्रीय उद्यान और सतपुड़ा टाइगर रिज़र्व के अधिकारी इनको विस्थापित करने पर तुले हैं। राईखेड़ा और आंजनढाना के काम से यह भी साबित होता है कि अगर मौका मिले तो बिना पढ़े-लिखे लोग भी अपने परंपरागत ज्ञान, अनुभव और लगन से जल प्रबंधन जैसे तकनीकी काम को बेहतर ढंग से कर सकते हैं। कहां से और किस तरह से नाली के द्वारा पहाड़ के टेढ़े-मेढ़े रास्तों से पानी उनके खेतों तक पहुंचेगा, इसका पूरा अनुमान उन्होंने लगाया और इसमें वे कामयाब हुए। न तो उन्होंने इंजीनियर की तरह नाप-जोख की और न ही इस विषय की किसी से तकनीकी जानकारी ली। अपनी अनुभवी निगाहों से ही उन्होंने पूरा अनुमान लगाया, जो सही निकला।

तीसरी बात यह है कि सिंचाई व्यवस्था गांव की सामूहिक पहल और प्रयास का परिणाम है। सरकारी योजनाओं एवं सरकारी धन से यह काम नहीं हुआ है। सबसे बड़ी बात ग्रामीणों की कभी न हारनेवाली हिम्मत और जिद थी जिसके कारण आज उनकी और उनके बच्चों की जिंदगी में आमूलचूल बदलाव आ सका है। कुल मिलाकर, यह कहा जा सकता है कि ऐसे गांवों को विस्थापित करना बिल्कुल भी उचित नहीं है। बल्कि इस तरह के और प्रयास करने की जरूरत है। यह पहल सराहनीय होने के साथ-साथ अनुकरणीय भी है।

सतपुड़ा के जंगल

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए से,
ऊँघते अनमने जंगल।

अजगरों से भरे जंगल,
अगम, गति से परे जंगल
सात-सात पहाड़ वाले,
बड़े-छोटे झाड़ वाले,
शेर वाले, बाघ वाले
गरज और दहाड़ वाले,
कम्प से कनकने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल।

इन वनों के खूब भीतर
चार मुर्गे, चार तीतर,
पाल कर निश्चिन्त बैठे,
विजन पन के बीच पैठे,
झोंपड़ी पर फूस डाले
गोंड तगड़े और काले

(भवानीप्रसाद मिश्र की कविता सतपुड़ा के जंगल के अंश)

- आजादी के बाद अब तक जितनी विकास परियोजनाएं बनी हैं उनमें सबसे ज्यादा विस्थापन का शिकार आदिवासियों को होना पड़ा है। आंकड़ों में सिर्फ प्रत्यक्ष विस्थापन ही शामिल है। काफी विस्थापन अप्रत्यक्ष होता है।
- एक बार विस्थापित होने के बाद लोगों की ज़िंदगी फिर व्यवस्थित नहीं हो पाती। उल्टे लोगों की हालत बदतर हो जाती है। विस्थापन का समाधान पुनर्वास से नहीं होता।
- वन्य प्राणी संरक्षण के संबंध में ऐसा कोई अध्ययन नहीं हुआ है कि मानवविहीन करके ही वन और वन्य जीवों को बचाया जा सकता है। बल्कि बोरी अभयारण्य के अनुभव से तो लगता है कि वन, वन्य जीव और वनवासियों का सहअस्तित्व संभव है।
- वन्य जीवों के संरक्षण से जुड़ा है वन संरक्षण। जंगली जानवर जंगल में ही रहते हैं। यह विडंबना ही है कि वन्य प्राणी संरक्षण योजना की शुरुआत वनों को काटकर की जाए।
- वन्य संरक्षण की योजनाएं व नीतियां विरोधाभासी हैं। एक तरफ तो शेरों को बसाने के लिए लोगों को उजाड़ा जा रहा है वहीं दूसरी तरफ पर्यटकों के लिए सैर-सपाटे के इंतज़ाम किए जा रहे हैं।
- एक दलील यह दी जाती है कि जंगलों में बसे आदिवासियों का विकास नहीं हो रहा है। तथ्य यह है कि जो गांव विस्थापित किए गए हैं उनमें हर दृष्टि से लोगों की ज़िंदगी पहले से बदतर हुई है।